लेखक-परिचय

डॉ० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'

आगरा विश्वविद्यालय से हिन्दी और संस्कृत में एम० ए० तथा हिन्दी में पी-एच० डी०। 'हिन्दी-काव्य में नियतिवाद' नामक शोध-प्रबन्ध प्रकाशित हो चुका है। 'हिन्दी शिव-काव्य' विषय पर डी० लिट० के लिये शोध-प्रबन्ध लिख रहे हैं। कविता, नाटक, आलोचना, निबन्ध, उपन्यास आदि से सम्बन्धित ४० ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। प्रमुख प्रकाशित कृतियाँ हैं—सारथी (महाकाव्य), जलती रहे मशाल, हिमप्रिया, विश्वज्योति बापू, आयाम, जयघोष, दुर्वासा, उत्सर्ग, गौरवगान, संघर्षों के राही, मधुरजनी, सर्वोदय के गीत आदि काव्य, खड़ी बोली के प्रतिनिधि कवि, प्रेमचंद और उनका गोदान, काव्यालोचन, मीमांसा और मूल्यांकन, हिन्दी साहित्य का आदर्श इतिहास, हिन्दी भाषा और उसका इतिहास आदि आलोचना-ग्रंथ, सोमनाथ, द्रोण का शिष्य, विजय पर्व, शान्ति के प्रहरी, धरती का देवता, लोक-देवता जागा सदानीरा आदि नाटक तथा 'हम धरती के लाल' 'राह और रोशनी' आदि कथा-ग्रन्थ।

आप बहुमुखी प्रतिभा के धनी साहित्यकार हैं। १९४३ ई० से बराबर देश की सभी श्रेष्ठ पत्र-पत्रिकाओं, यथा-सरस्वती, विशाल भारत, वातायन, सम्मेलन पत्रिका नया पथ, नया जीवन, हिन्दुस्तान, धर्मयुग, संगम, नई धारा आदि में आपकी रचनाएँ निकलती रही हैं। राजस्थान साहित्य अकादमी ने आपको दो बार एक-एक हजार रुपयों के काव्य-पुरस्कारों तथा स्वर्ण-पदकों से, राजस्थान सरकार ने ५००) के गद्य-पुरस्कार से और भारत सरकार ने ७५०) के नाटक-पुरस्कार से सम्मानित किया है। आजकल आप उदयपुर विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में प्राध्यापक राजस्थान साहित्य अकादमी के सदस्य, सरस्वती-सम्वाद के मान्य सम्पादक और 'समितिवाणी' त्रैमासिकी के परामर्श-मण्डल में हैं।

शोध और समीक्षा

(साहित्यिक निबन्ध)

लेखक
डॉ० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'
एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत) पी-एच० डी०
हिन्दी-विभाग
उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर

प्रकाशक
कल्याणमल एण्ड संस
त्रिपोलिया बाजार, जयपुर

प्रकाशक

कल्याणमल एण्ड सन्स

त्रिपोलिया बाजार, जयपुर

मुद्रक

अखिल भारतीय मुद्रणालय, जयपुर

आठ रुपये

दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक में मेरे शोध-पूर्ण और मौलिक २५ लेख संकलित हैं। इन लेखों में मैंने वस्तु-परक दृष्टि से हिन्दी-साहित्य की कतिपय नवीन प्रवृत्तियों तथा पुरानी एवं नई कई महत्त्व-पूर्ण कृतियों पर विचार किया है। आवश्यक नहीं है कि पाठक मेरे दृष्टिकोण से पूर्णतः सहमत ही हों, किन्तु 'वह भी एक दृष्टि है' इतना स्वीकार कर लेने में तो किसी को आपत्ति होनी ही नहीं चाहिए।

इन लेखों में अनायास कई ऐसी पुस्तकें विवेचन का विषय बन गई हैं, जिनका सम्बन्ध विश्वविद्यालयीय पाठ्य-क्रमों से भी है। अतः उपयोगिता की दृष्टि से भी ये लेख अपना विशेष महत्त्व रखते हैं। आशा है, साहित्य के अध्येताओं में मेरी इस पुस्तक का भी वैसा ही स्वागत होगा, जैसा मेरी अन्य कृतियों का हुआ है।

गणतंत्र-दिवस
१६६६ ई०

—रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'

विषय-सूची

: १ :

नयी आलोचना की प्रवृत्तियाँ

आलोचना शब्द का प्रयोग कई संदर्भों में होता है। उन संदर्भों के अनुसार उसके अर्थ में भी अन्तर आ जाता है। उदाहरणार्थ, राजनैतिक संदर्भ में आलोचना का अर्थ होता है–किसी के मत का खण्डन या विरोध, सामाजिक संदर्भ में उसका अर्थ होता है दोष-दर्शन या बुराई करना। साहित्य के संदर्भ में आलोचना शब्द का प्रयोग इनसे भिन्न अर्थ में होता है। साहित्य सृजन की प्रक्रिया के दो सोपान माने जा सकते हैं। प्रथम सोपान है–स्थूल और गत्यात्मक जगत् का अनुभूति के माध्यम से मानस–साक्षात्कार और द्वितीय सोपान है उस मानस-साक्षीकृत सूक्ष्म और भावात्मक जगत का अभिव्यक्ति के माध्यम से बोध-विस्तार। साहित्यिक संदर्भ में आलोचना इन दोनों सोपानों पर खड़े साहित्य–सृजन की मूलभूत एकता का सौन्दर्य खोजने वाली प्रक्रिया का नाम है।

प्रथम विश्व-युद्ध तक आते-आते संसार के सभी सभ्य देश अनेक प्रकार की क्रान्तियाँ पार कर चुके थे। इन क्रान्तियों ने सामाजिक एवं राजनैतिक उथल-पुथल के अशान्त वातावरण में साहित्य की सत्ता को अनेक बाह्य आवरणों द्वारा पूर्व काल की अपेक्षा अधिक दुर्बोध्य बना दिया था। परिणाम यह हुआ कि साहित्य की सृजन-प्रक्रिया में बढ़ती हुई जटिलता के अनुसार उसकी आलोचना प्रक्रिया भी जटिलतर होती चली गई। साहित्य-सृजन तो विशुद्ध साहित्य सृजन रह ही नहीं गया था, आलोचना भी विशुद्ध आलोचना न रही। प्रथम विश्व-युद्ध का अन्त होते-होते पाश्चात्य देशों में जटिलता का बहुत तीव्रता से अनुभव किया जाने लगा। अतः उस जटिलता से मुक्ति पाकर विशुद्ध साहित्य सृजन की प्रेरणा देने एवं उसका मूल्यांकन करने के लिए आलोचना की नयी पद्धति का आविष्कार हुआ।

हिन्दी-साहित्य का आधुनिक सृजन पाश्चात्य (विशेषतः आंग्ल) साहित्य से अधिक प्रेरित है। अतः पाश्चात्य साहित्य में जो नई साहित्यिक प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हुई वे हिन्दी-साहित्य में भी धीरे-धीरे प्रवेश पाती गई। समस्त गत दशक में हिन्दी साहित्य नयी शब्द से सम्बद्ध उन समस्त पाश्चात्य प्रवृत्तियों का स्वागत करता रहा है। सबसे पहले उसमें नयी कविता का उद्बोध उठा था। धीरे-धीरे कहानी, उपन्यास

आदि के साथ जुड़ता हुआ यह शब्द आलोचना के साथ भी आ लगा है। किन्तु नयी आलोचना का हिन्दी साहित्य में अभी तक मार्ग और लक्ष्य निश्चित नहीं हो सका है।

आरम्भ में नयी कविता शब्द उतना चौंकाने वाला नहीं था, जितना चौंकाने वाला नयी आलोचना शब्द अब तक हमारे लिए बना हुआ है। नयी कविता बहुत सरलता से कविता के पूर्व रूप से भिन्न होकर चलने लगी थी, क्योंकि वह प्राचीन परम्परा से विषय, रूप और शिल्प सम्बन्धी स्पष्ट भिन्नता लेकर आई थी। परम्परागत कविता छन्द और लय का अनुसरण करती थी तथा उसका शिल्प, गेयता, आलंकारिकता आदि सम्बन्धी अनेक प्रत्यक्ष विशेषताएँ लिए रहता था। नई कविता ने उन सब का परित्याग किया। अतः पाठक चौंके तो उन्होंने केवल इतना कहा, "यह भी कोई कविता है ?" किन्तु नयी आलोचना परम्परागत आलोचना से नयी कविता के समान, रूप और शैली में भिन्नता उत्पन्न करके नहीं देखी जा सकती। उसको पहचानने के लिए उसकी उन प्रवृत्तियों को समझना आवश्यक है, जो उसकी लक्ष्य-साधना में निहित है।

नयी आलोचना की उन प्रवृत्तियों का अभी तक हिन्दी-साहित्य में सिद्धान्त रूप में ही अनुभव किया गया है, उनका प्रयोग सृजनात्मक साहित्य पर बहुत कम हुआ है। इसका कारण यह है कि हिन्दी के अधिकांश आलोचक परम्परागत आलोचना की प्रवृत्तियों से मुक्ति पाने में असमर्थता का अनुभव करते हैं। अतः नयी आलोचना की मुख्य प्रवृत्तियों को समझने के लिए उन बातों का जान लेना अधिक आवश्यक है, जिनके विरोध में नई आलोचना का जन्म हुआ है।

आलोचना के परम्परागत मान-दण्डों को समझने वाले व्यक्ति यह अच्छी तरह जानते है कि अब तक हम जिसे आलोचना कहते आए है उसमें किसी भी साहित्यिक सृजन के उचित मूल्यांकन की पूर्ण क्षमता नही है। कोई मान-दण्ड रचना की सामाजिक सांस्कृतिक या ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि की समीक्षा प्रस्तुत करके रह जाता है, तो किसी मानदण्ड के अनुसार उसे किसी आध्यात्मिक, सामाजिक या राजनैतिक दर्शन की कसौटी पर कस लिया जाता है, कोई मानदण्ड रचनाकार की विभिन्न परिस्थितियों और मानसिक स्थितियों की छानबीन करके विराम पा लेता है, तो किसी के अनुसार रचना के शब्दों, शैली और प्रभाव के आधार पर मूल्यांकन कर दिया जाता है। आलोचक की अभिरुचि भी उसमें बहुत बड़ा प्रेरक तत्व रहती है। शृंगार-प्रिय आलोचक को बिहारी से बड़ा कोई कवि नहीं दीखता, तो ईश्वर-भक्त आलोचक सूर, तुलसी आदि की कविता को ही सर्वोत्तम काव्य घोषित करते है। इसी प्रकार मार्क्सवादी आलोचकों को यदि छायावादी काव्य निकृष्ट प्रतीत होता है, तो कलावादी आलोचकों को प्रगतिवादी काव्य मे काव्यत्व की तनिक भी गंध नहीं आती। सामान्य

पाठक भी एक ही कविता के विषय में इस प्रकार के विरोधी निर्णय देखकर सहज में यह धारणा बना सकता है कि वास्तव में वह आलोचना की कोई स्वस्थ परम्परा नहीं है। नयी आलोचना की मूल प्रवृत्ति है उस परम्परा से विच्छिन्न होकर रचना को रचना के रूप में देखना।

यहाँ रचना को रचना के रूप में देखने का आशय यह है कि आलोचक आलोचना करते समय यह स्पष्टतः समझ ले कि वह जिस रचना की आलोचना कर रहा है *वह रचना न तो भक्ति या अध्यात्म का कोई ग्रंथ है, न राजनीति, समाज शास्त्र,* मनोविज्ञान, इतिहास, संस्कृति, भूगोल या विज्ञान आदि का ग्रन्थ है। उसमें इन सब विषयों का समावेश हो सकता है और होना भी चाहिए, क्योंकि साहित्य-सृजन की सामग्री जीवन के जिस व्यापक क्षेत्र से आती है, वह इन सबसे निरपेक्ष नहीं है। किन्तु, उस समावेश के होने पर भी साहित्यिक रचना उन सब विषयों से भिन्न अस्तित्व धारण कर लेती है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार नींबू के रस, जल, शर्करा, पात्र आदि के संयोग से जो पेय बनता है, वह न तो नींबू का रस रहता है, न शर्करा, न जल और न पात्र आदि। वह अपने अस्तित्व की भिन्नता तो घोषित करता ही है, साथ ही उसका स्वाद भी उन सब वस्तुओं के स्वाद से भिन्न हो जाता है। कोई भी साहित्य-सृजन इसी प्रकार अस्तित्व और आस्वाद की दृष्टि से एक भिन्न सृष्टि होता है। परम्परागत आलोचना उस अस्तित्व और आस्वाद को लक्ष्य न बना कर, उन वस्तुओं को लक्ष्य बनाती है, जिनसे उसका निर्माण हुआ है। इसीलिए उसके निर्णय न तो सर्वथा उचित होते हैं और न सभी स्थितियों में समानता ही रखते हैं। भिन्न-भिन्न आलोचक एक ही रचना के विषय में भिन्न-भिन्न और विरोधी मत देते हैं। इतनी ही बात नहीं, कभी-कभी तो ऐसा भी देखा जाता है कि एक ही आलोचक अपनी भिन्न-भिन्न मनःस्थितियों और वैचारिक संदर्भों में एक ही रचना के प्रति विरोधी मत भी प्रस्तुत करता है। नयी आलोचना इस प्रवृत्ति को अवांछनीय मानती है। वह आलोचना की उस पद्धति का नाम है जिसके अनुसार रचना का सर्वकालीन तथा सर्व-स्वीकार्य उचित मूल्यांकन सभव हो सके। वह इतिहास, समाजशास्त्र, राजनीति, धर्म, संस्कृति आदि की विभिन्न भूमियों से प्रवाहित होकर आती हुई अनुभूति की धारा का मूल्यांकन करती है, जबकि परम्परागत आलोचना अनुभूति-धारा की उपेक्षा करके उन विभिन्न भूमियों का ही मूल्यांकन करती रहती है। इसे अधिक स्पष्ट करने के लिए यह कहा जा सकता है कि परम्परागत आलोचना कविता में पूर्वोक्त विभिन्न स्तरों का अध्ययन करती है, जबकि नई आलोचना उन स्तरों में रचना की खोज करती है अर्थात वह यह नहीं बताती कि रचना में आध्यात्मिकता, सामाजिकता, मनोविज्ञान आदि को किस रूप में या किस मात्रा में चित्रित किया गया है, बल्कि यह बतलाती है कि रचनाकार आध्यात्म, समाज आदि की भूमियों से

ऊपर रचना के अस्तित्व को किस रूप और मात्रा में उभार कर प्राणान्वित कर सका है। अस्तु।

नयी आलोचना साहित्यिक रचना को शुद्ध साहित्यिक रूप में समझ सकने और साहित्यिक स्तर पर ही उसका आस्वादन करने की एक प्रक्रिया है। वह आलोचक को रचना के उस मर्म तक पहुँचाती है जिस तक पहुँचने पर ही उस रचना को साहित्यिक कृति कहा जा सकता है। इस प्रक्रिया को अपनाने वाले सभी आलोचक किसी भी रचना के सम्बन्ध में लगभग समान निष्कर्षों पर पहुँचते हैं, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार हर गणितज्ञ दो और दो का योग चार ही बतलाता है।

परन्तु यह प्रक्रिया उतनी सरल नहीं है, कितनी सरल परम्परागत आलोचना की प्रक्रिया है। किसी भी नई कृति के विषय का संकेत मिलते ही परम्परागत आलोचना कुछ विशेष प्रकार के उत्तर दे सकती है, क्योंकि उसकी पूर्व निर्धारित एक शास्त्रीय कसौटी होती है। उदाहरण के लिए सीता-स्वयंवर के विषय पर किसी लेखक ने एक नाटक की रचना की। परम्परागत आलोचना की प्रक्रिया के अनुसार कथानक, पात्र और चरित्र, देश-काल आदि का एक सैद्धान्तिक सांचा उस पर जमा दिया जाएगा। यही तक नहीं, कभी-कभी ऐसी कृतियों को बिना पढ़े भी केवल सीता-स्वयंवर सम्बन्धी पूर्व ज्ञान के आधार पर आलोचक उनके सम्बन्ध में अपने निर्णय दे देता है। किन्तु, नयी आलोचना की प्रक्रिया में इस प्रकार के सतही निर्णयों के लिए कोई स्थान नहीं है। उसके अनुसार आलोचक को नाटक के उस मर्म को समझना आवश्यक है, जो उसके सृजन में नाटककार का प्रारम्भ से अन्त तक लक्ष्य रहा है तथा जिसकी उस कृति के प्रत्येक रूप और अंश में अभिव्यक्ति हुई है।

साहित्यिक सृजन को शुद्ध साहित्यिक सृजन के रूप में देखने की इस नयी आलोचना पद्धति में विश्लेषण की प्रवृत्ति से काम लेना पड़ता है। आलोचक रचना तत्व को पूर्ण गहराई से समझ कर ही अपने निर्णय प्रस्तुत करता है। विश्लेषण की प्रवृति परम्परागत आलोचना में भी मिलती है, किन्तु दोनों में एक मौलिक अन्तर है। परम्परागत आलोचना सैद्धान्तिक आधार पर उन तत्वों का विश्लेषण करती है, जिनका रचना में विभिन्न क्षेत्रों से विभिन्न मात्रा में समावेश हुआ है, जबकि नयी आलोचना मात्र उस रचना-तत्व का विश्लेषण करती है, जिस पर रचना का मर्म निर्भर है।

परम्परागत आलोचना किसी भी रचना को सामाजिक, सांस्कृतिक साहित्यिक आदि परम्पराओं से पृथक करके नहीं समझ पाती, जबकि नई आलोचना की यह एक विशेष प्रवृत्ति है कि वह रचना को समस्त परम्परा से पृथक करके देखती है, ताकि उसका निरपेक्ष सृजन के रूप में उचित मूल्यांकन हो सके। इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप नयी आलोचना उस दोष से बच जाती है जो देश परम्परा के आरोप के कारण रचना

के महत्व को घटा-बढ़ा कर देखने की प्रवृत्ति से परम्परागत आलोचना में समाहित रहता है।

नयी आलोचना में स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति भी मिलती है। वह किसी भी पूर्व निर्धारित मानदण्ड को हर साहित्यिक सृजन की आलोचना के लिए पर्याप्त और उचित नहीं मानती। इसके फलस्वरूप आलोचक रचना का विश्लेषण करता हुआ हर समय अपूर्व की प्राप्ति के लिए जिज्ञासु रहता है। एतदर्थ आलोचक को बहुत साव-धानी से काम लेना पड़ता है, नहीं तो यह प्रवृत्ति चमत्कार की खोज के रूप में भी परिवर्तित हो सकती है और ऐसी दशा में नयी आलोचना भी उसी अतिवादिता से ग्रसित हो सकती है जिससे परम्परागत आलोचना रचना में परम्परागत संस्कारों की खोज करते समय ग्रसित रहती है। नया आलोचक सदैव यह ध्यान रखता है कि वह किसी दुराग्रह से न बँध जाय--कोई भी विचार-धारा या मतवाद उसके दृष्टिकोण को संकीर्ण न बना दे। वह पूर्ण स्वच्छन्दता के साथ रचना-तत्वों की छान-बीन करता है और जब रचना के मर्म तक पहुंच जाता है, तभी कोई निर्णय देता है। यह निर्णय भी तुलनात्मक श्रेष्ठता दिखाने का नही होता, अपितु रचना मात्र की स्थिति का परिचायक होता है।

नयी आलोचना रचना के उन तत्वों का पता लगाती है, जो जीवन की नई अनुभूतियों, दृष्टियों और परिस्थितियों से जुड़े होते है। इसीलिए जो रचना विषय और अभिव्यक्ति की दृष्टि से नए जीवन-बोध से रहित होती है, वह किसी महत्त्वपूर्ण वाद या विचार-धारा का प्रतिपादन करने वाली होने पर भी नयी आलोचना के निर्णयानुसार श्रेष्ठ सिद्ध नहीं हो पाती। अतः नयी आलोचना रचना में उस तत्व की खोज की प्रवृत्ति पर भी आधारित है, जो तत्व जीवन के नए परिवेशों और नूतन नितान्त संदर्भो से उत्पन्न होता है।

पूर्वोक्त प्रवृत्तियों को आधार बना कर चलने के कारण नयी आलोचना की भाषा में भी एक नवीनता का बोध समाहित हो जाता है। वह शास्त्रीय शब्दों को नितान्त नए अर्थ देती है और उन्हें परम्परागत संदर्भो से विच्छिन्न करके नए संदर्भो का वाहक बनाती है। उसका सदैव यह प्रयास रहता है कि शब्द रचना पर शासन न करे, अपितु रचना के मर्म का उद्घाटक बने।

नयी आलोचना का प्रयोग किसी भी असाहित्यिक मन्तव्य की पूर्ति के लिए नहीं किया जा सकता। वह किसी कृति को आधार बनाकर किसी मतवाद के प्रचार में सहायक नहीं बन सकती। वह किसी कृति का ऐसा मूल्यांकन भी नहीं करती, जिससे कृति की अपेक्षा कृतिकार के महत्त्व का उद्घाटन करने का छद्म उद्देश्य पूर्ण होता है। वस्तुतः नयी आलोचना की समस्त प्रवृत्तियों के समुचित विकास का उद्देश्य

है रचना के शुद्ध साहित्यिक मूल्यांकन का युगारम्भ। हिन्दी में आलोचना-जगत में परम्परागत आलोचना पद्धतियों के प्रति विरोध-भाव तो अधिक व्यक्त किया गया है, किन्तु नयी आलोचना जैसी शुद्ध साहित्यिक समीक्षा पद्धति के अनुसरण का प्रयास अधिक नहीं हुआ। अभी तो हमारी आलोचना एक संक्रान्ति-काल से निकल रही है, किन्तु वह दिन भी दूर नहीं जब नयी आलोचना की स्थापना करने वाले समर्थ आलोचक सामने आएंगे और वे समस्त दुराग्रहों से मुक्त रह कर कृति-धर्म का उचित मूल्यांकन प्रारम्भ करेंगे।

: २ :

काव्य-क्षेत्र में नए-पुराने का संघर्ष

हिन्दी काव्य का गत १० वर्षों का इतिहास एक विशेष संघर्ष के परिवेश में निर्मित हुआ है। ऐसा संघर्ष उसके पिछले एक हजार वर्षों में भी कभी घटित नहीं हुआ था। इसका तात्पर्य यह नहीं कि पहले कभी काव्य-क्षेत्र में कोई संघर्ष नहीं था। वीरगाथा काल से स्वतन्त्रता-प्राप्ति की तिथि तक हिन्दी काव्य में कथ्य और कला सम्बन्धी अनेक परिवर्तन हुए, अनेक नए भाव और विचार आए, वे परस्पर टकराए भी, पर उस दीर्घकाल में भी वे वैसी प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न न कर सके थे, जैसी प्रतिक्रियाएँ गत १० वर्षों के काव्य में दृष्टिगोचर हुईं। शायद ही पहले कभी ऐसी भयंकर परिस्थिति आई हो कि हिन्दी कवि को एक मोर्चा बनाकर अपने सृजन को स्वीकार कराने के लिए स्वयं आन्दोलन करना पड़ा हो। काव्य के कथ्य और शिल्प में पहले भी अनेक प्रकार की भिन्नताएँ रहती थीं। तुलसी, सूर, मीरां, कबीर, या बिहारी, भूषण, घनानन्द, या निराला, प्रसाद, नवीन, गुप्त आदि की काव्य-धाराएँ अनेक बातों में भिन्न प्रवाहोन्मुखी हैं, परन्तु कभी नहीं देखा गया कि इन कवियों ने उस भिन्नता के कारण एक दूसरे के सृजन को न कराने या स्वीकार कराने में अपनी प्रतिभा और क्षमता को दुर्बल बनाया हो। आलोचकों ने अवश्य वादों के झमेले में कभी-कभी विरोधी आवाजें उठा कर गतिरोध उत्पन्न करने की चेष्टा की, पर उनकी वह चेष्टा आलोचना की सीमा से आगे न जा सकी। किन्तु गत दशक के कवियों को सर्वथा विपरीत स्थिति में वह मुखी प्रहारों का सामना करना पड़ा है और अभी भी उसका अन्त नहीं हुआ है। प्रहारों के उत्तर में प्रहार किए गए हैं और कभी-कभी प्रहार की आशंका मात्र से भी पारस्परिक प्रहार हुए हैं जब एक पक्ष मौन हो गया है, तब दूसरे पक्ष के कवि परस्पर ही प्रहार करने लगे हैं और अब भी कुछ ऐसी ही स्थिति बनी हुई है।

इस गत दशक के संघर्ष की स्थिति कुछ ऐसी रही है कि एक वर्ग के कवि ने जो कुछ रचा है, दूसरे वर्ग के कवि ने उसे कविता स्वीकार करने से इन्कार तो किया ही है, साथ ही अपनी प्रतिभा और वाणी की समस्त शक्ति लगाकर डंका बजाते हुए यह प्रचार भी किया है कि उसे कविता न माना जाय। ऐसा करने के लिए वह कट्टर पंथी आलोचक बनने की कला में दक्ष होने के लिए भी सभी दिशाएँ छानता रहा है

और अपने समर्थन के लिए दुराग्रही आलोचकों का एक वर्ग भी तैयार करता रहा है। क्या नहीं किया उसने विपक्षी की कविता को आसन-च्युत करने के लिए ? अनेक पत्र-पत्रिकाएँ तक केवल इसी उद्देश्य से प्रकाशित की गईं। अशिष्टता—पूर्वक सरस्वती के मंच पर विपक्षी को अपमानित करने के मनमाने आयोजन किए गए और जान-बूझ कर सृजन के श्रेष्ठतम मूल्यों को आँख बन्द करके ठुकराया गया।

अब धीरे-धीरे अन्तर्विरोधों की वह समस्त आंधी शान्त होती जा रही है। संघर्ष का अभियान एक किनारे जा लगा है, किन्तु फिर, उस संघर्ष के अनेक क्षुद्र भाव अभी शेष है, जो उसे जीवित रखने की प्रत्यक्ष चेष्टा कर रहे हैं। विपक्षीय विरोध शान्त होता जा रहा है, तब पक्षीय अन्तर्विरोध की गति तीव्र होती दिखाई दे रही है। अतः अवसर पाकर शान्त शक्तियाँ पुनः सिर उठाने की चेष्टा करना चाहती हैं।

समस्या यह है कि जब तक कविता का मार्ग विरोधों की आँधी को पार नहीं कर जाता, तब तक उसके मूल्यों की उचित प्रतिष्ठा कैसे की जाय ? और किस प्रकार जीवन के संदर्भ में उसका उचित महत्व आँका जाय ? यह समस्या उस समस्त काव्य के साथ जुड़ी हुई है, जिसका गत दशक में सृजन हुआ है। वह काव्य उस संघर्ष में भाग लेने वाले दोनों ही पक्षों की जीवन्त प्रतिभा और अमोघ शक्ति का दल है। हम उसके किसी भी एक पक्ष के अंश को किसी विशेष आग्रह से नहीं देख सकते। दोनों ही पक्षों ने ही कुछ दिया है। प्रश्न है, क्या दिया है और किस रूप में दिया है ?

सुविधा के लिए हम गत दशक के समस्त काव्य को निम्नांकित दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं :—

१. शास्त्रीय काव्य
२. आधुनिक कविता

यहाँ हमने जान बूझ कर "शास्त्रीय" और "आधुनिक" शब्दों का प्रयोग विशेष परिभाषिक अर्थों में किया है और पुराने-नए का संघर्ष अनावश्यक माना है। अब सभी समझदार आलोचक (और कवि भी) यह मानने लगे हैं कि दोनों ही वर्गों का काव्य अपनी अपनी स्थितियों में "कविता" है, यह बात दूसरी है कि एक वर्ग शास्त्रानुकूल छंद, अलंकार, रस, वस्तु विचार, आदर्श, आदि के विधान का अनुकरण करता है और दूसरा वर्ग उस विधान की उपेक्षा कर अपना स्वतन्त्र मार्ग अपनाता है। यद्यपि प्रथम वर्ग के काव्य को शास्त्रीय काव्य नाम अभी तक नहीं दिया गया, किन्तु मेरी दृष्टि में आगे चल कर उसकी इसी विशेषण के साथ स्वीकृति होनी है। द्वितीय वर्ग के काव्य को समस्त गत दशक में 'नई कविता' के नाम से स्थापित करने

की चेष्टा की जाती रही है। इस नाम ने भी अधिकांश लोगों को चौंकाया है और खास तौर से शास्त्रीय काव्य के रचयिताओं या समर्थकों को। उन्हें यह भ्रान्ति हुई है कि यदि नई कविता ही 'नई' मानी गई, तो उनका सृजन पुराना मान लिया जाएगा। परन्तु किसी एक वस्तु को "नया" कहा जाने का यह आशय कदापि नहीं कि शेष सभी वस्तुएँ जिन्हें "नया" नहीं कहा जाता, वे पुरानी हैं। फिर "पुरानी" मान भी ली जायं तो उसमें क्या क्या है? "नई" होने से ही कोई वस्तु श्रेष्ठ हो और पुरानी होने से ही निकृष्ट ऐसा नहीं माना जा सकता। अतः शास्त्रीय काव्य और नई कविता के संघर्ष की अधिकांश भूमिका भ्रान्ति जन्य है।

सौभाग्य से यह बात "नई" शब्द से चल कर "आधुनिक" शब्द पर आ टिकी है। 'नई कविता' के विषय में बार बार यह प्रश्न उठता रहा कि वह किस 'वाद' की कविता है! वास्तव में यह प्रश्न निरर्थक है और साथ ही हास्यास्पद भी था। पर उठा और जोर-शोर से उठा। इसका कारण यह था कि गत दशक से पूर्व का समस्त काव्य किसी न किसी 'वाद' का काव्य था। उसकी अपनी स्वतन्त्र कोई सत्ता नह थी। यदि तुलसी रामभक्ति का प्रचार करते थे, सूर वल्लभ के मतवाद को कविता के द्वारा समझाते थे, कबीर और जायसी आध्यात्मिक रहस्यवाद के लिए कविता करते थे। रीतिकाल के कवि अलंकारवादी या ऐसी ही किसी अन्य कोटि में थे, द्विवेदी युग तक के आधुनिक कवि राष्ट्रीयतावादी थे, प्रसाद आदि छायावादी थे तथा सुमन, केदार आदि ने प्रगतिवाद के अनुशासन में काव्य लिखा व अज्ञेय आदि के आरंभ में प्रयोगवादी का प्रचार किया था तो नई कविता के लिए भी किसी वाद की सीमा कहीं न कहीं होगी ऐसी भ्रान्ति कुछ लोगों के मस्तिष्क में काम करती रही। फलतः जब उन्होंने उसे कभी प्रगतिवाद, कभी राष्ट्रीयता, कभी छायावाद और कभी व्यक्तिवाद के अधिक समीप देखा तो वे उसकी यह अस्थिरता पर खीझ उठे। यह खीझ अभी भी समाप्त नहीं हुई है। यथा, केदारनाथ अग्रवाल को अब भी यह शिकायत है कि उनकी प्रगतिवादी कविताएँ "नई कविता" क्यों नहीं मानी जाती? कल्पना (१५७) में वे लिखते हैं—"न जाने लोगबागों ने ऐसी कविता के अलावा अदम्य शक्ति की कविता को नई कविता में सम्मिलित क्यों नहीं करते? शायद वह इसलिए त्याज्य समझा जाता है कि वह कहीं सामाजिकता का आग्रह न कर बैठे।" (पृष्ठ ४४)

वास्तव में आरंभ में 'नई कविता' नाम इसलिए दिया गया, क्योंकि उसे वादों के घेरे के बाहर निकालना था। अपने एक हजार वर्षों के दीर्घकाल में वह किसी न किसी वाद का प्रचार करने में व्यस्त रह कर स्वकीय अस्तित्व की उपेक्षा कर बैठी थी। आज तक जितना हिन्दी काव्य लिखा गया है, उसका आधे से अधिक अंश ऐसा है जो पद्य के कलेवर में विभिन्न मतवादों का शास्त्रीय विवेचन है। अतः गत दशक के उन कवियों ने जो कविता के स्वरूप की सही प्रतिष्ठा और काव्यात्मक की रक्षा

चाहते थे, "नई कविता" नाम देकर कविता लिखना प्रारंभ किया । दुर्भाग्य से विभिन्न वादों के समर्थक या जो कवि कि जिन्हें वादों के संस्कार अभी भी जकड़े हुए थे, जब नई कविता के क्षेत्र में आए तो वे भी अप्रत्यक्ष रूप में अपने अपने वादों का आग्रह अपनाए रहे । ऐसे कवियों ने भी अप्रत्यक्ष रूप में उन लोगों की पीठ ठोकी जो बार बार यह प्रश्न करते थे कि नई कविता किस वाद की कविता है । किन्तु अब जब बात बढ़ते-बढ़ते आधुनिकता पर आ टिकी है, तब फिर यह प्रश्न उठाया जाने लगा है कि नई कविता ही आधुनिक कविता क्यों है । छायावादी-प्रगतिवादी या राष्ट्रीयता-वादी काव्य क्या आधुनिक नहीं है ? यदि वह भी आधुनिक है तो फिर भेदक बिन्दु कौन-सा है ?

इस प्रश्न का उत्तर देना आज बहुत आवश्यक हो गया है । एक तो इसलिए कि स्पष्ट उत्तर मिल जाने पर आधुनिक शब्दों को लेकर संघर्ष करने की आवश्यकता नहीं रहेगी, दूसरे इसलिए भी कि इस प्रश्न के उत्तर में ही नई कविता के अधिकांश वे मान-मूल्य छिपे हुए हैं, जो उसकी महत्वपूर्ण देन कहे जा सकते हैं ।

यों तो हिन्दी-काव्य का आधुनिक काल भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से प्रारंभ होता है ; अतः उसी समय से लिखी जाने वाली समस्त कविता को आधुनिक कविता कहा जा सकता है । इतिहास-लेखकों व शोध कर्ताओं ने ऐसा कहा भी है । परन्तु वास्तव में भारतेन्दु से आरंभ होने वाली कविता को आधुनिक कविता ऐतिहासिक दृष्टि से कहा गया था । प्रस्तुत संदर्भ में नई कविता के लिए "आधुनिक" शब्द का प्रयोग परिभाषिक अर्थ में हुआ है । नई कविता को आधुनिक कविता कहने वालों ने 'आधुनिकता' की अपने ढंग से परिभाषा की है । इस नवीन दृष्टि में "आधुनिक" वह नहीं है, जो आधुनिक युग में लिखा गया या लिखा जा रहा है, बल्कि वह "आधुनिक" है, जो आधुनिक जीवन की अनुभूतियों के परिवेश को प्रस्तुत करता है । इस बात को कुछ स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण दिया जा सकता है । एक कवि आयु में नवयुवक है । वह पृथ्वीराज या महाराणा प्रताप या राम के जीवन पर काव्य लिखता है और उसी युग को चित्रित करता है, जिससे इन पात्रों का सम्बन्ध है । तब निश्चय ही वह कवि नवयुवक होने पर भी पुराना कवि है तथा आधुनिक युग में रहने पर भी प्राचीन युग का है । इसका अर्थ यह नहीं कि प्राचीन पात्रों और कथानकों की पूर्णतः उपेक्षा कर दी जाय और एकदम वर्तमान-युग के ही विषय काव्य के लिए चुने जायं । पात्र और विषय नवीन होने पर भी प्राचीनता का अन्य रूप काव्यों में हो सकता है । यथा, प्राचीन संस्कार, रूढ़ियां (चाहे वे जीवन-गत हों चाहें शिल्प-गत) प्राचीन अनुभूतियाँ भाव और विचार आदि । वास्तव में जो कुछ हम से पहले की पीढ़ी जी चुकी है, वह सब उसी के माध्यम से हम तक आना चाहिए और उसके द्वारा रचे गये साहित्य से कुछ अंश में आया भी है । उसके द्वारा अनुभूत जीवन को

यदि हम अपनी अनुभूति बना कर अभिव्यक्त करना चाहेंगे तो वह अपने जीवन के लिए भ्रम उत्पन्न करना होगा तथा आगे की पीढ़ी भी हमको अर्थात् हमारे आधुनिक जीवन को समझने में भ्रम में पड़ेगी, क्योंकि वह जिसे हमारा अपना समझेगी उसका अधिकांश हमारा न होकर हमारे पूर्वजों का होगा। पूर्वजों के जीवन का खोल ओढ़ कर हम पहले तो जीवित रह सकते थे, तथा अपनी स्वतन्त्र सत्ता का भी उसके माध्यम से बोध करा सकते थे। परन्तु विज्ञान के कारण अब वह परिस्थिति नहीं रही। हमारे जीवन के समस्त रूप और मूल्यों में अब इतना अधिक परिवर्तन हो गया है तथा होता चला जा रहा है कि अपनी आधुनिकता को खोकर केवल परम्परा या पूर्वजों की भाव-सम्पत्ति के सहारे हम जीवित नहीं रह सकते अपने जीवन की अभिव्यक्ति नहीं कर सकते। अतः आज के काव्य में हमें अपनी आधुनिक राग-बोध शक्ति और अस्तित्व-मर्यादा की स्वकीय रूप में अभिव्यक्ति देनी है। यह कहना आज निराधार होगा कि हम जो जीवन आज जी रहे है वह सर्वांग में हमारा न होकर परम्परा की भी अधिकांश देन है। तब तो कहना पड़ेगा कि वह जीवन अपनी परम्परा की ही देन क्यों है विभिन्न देशों की परम्परा की देन भी तो, उसको मिली है। परन्तु यह बात विशेष महत्त्व नहीं रखती। परम्परा चाहे अपनी हो या परकीय आज के जीवन की समस्याएँ हल नहीं कर सकती। आज कोई भी व्यक्ति किसी भी स्वकीय परकीय परम्परा का सहारा लेकर जीवित नहीं रह सकता। आज तो वैज्ञानिक आविष्कारों के नए परिवेश में लिए गए जीवन की स्वकीय अनुभूतियों से ही हमारा अस्तित्व बचा रह सकता है। अतः नई कविता में आधुनिकता की जो आवाज है वह स्वकीय, अस्तित्व रक्षा की आवाज है। आधुनिकता को स्वीकार कर काव्य सृजन करने वाले कवि की कृति की यही सबसे महत्त्वपूर्ण देन है कि वह आधुनिक जीवन की अनुभूतियों के प्रति पूर्णतः ईमानदार है। उसकी दृष्टि में बाहर से आने वाला हर वाणी और परकीय विचार या भाव चाहे वह अपने अतीत से आया हो चाहे किसी बाह्य देश से—काव्य सृजन के लिए बहिष्करणीय है, क्योंकि वह विचार या भाव उसे अपने अनुभूति विचार या भाव के प्रति ईमानदार नहीं रहने दे सकता। इसी आधार पर नई कविता ने आधुनिकता का अभिधान किया है। मैं समझता हूँ कि निष्पक्ष विचार-शील व्यक्ति नई कविता की इस ईमानदारी को प्राचीन के प्रति 'बगावत' कहने का साहस न करेगा। और न उसे नई कविता के गत दशक की उपलब्धियों को समझ लेने पर नए-पुराने के संघर्ष को जीवित रखने की आवश्यकता ही प्रतीत होगी।

अब रहा संघर्ष का दूसरा पक्ष जो प्रश्न उत्पन्न करता है कि क्या आधुनिकताविहीन शास्त्रीय काव्य बहिष्करणीय है? इस प्रश्न का उत्तर स्वीकारात्मक नहीं होना चाहिए। शास्त्रीय काव्य आधुनिक जीवन की अभिव्यक्ति भले ही न करे,

किन्तु वह उसमें भटकने वाले आधुनिक मन की परितृप्ति अवश्य खोजता है। आधु-निक जीवन में जो नहीं है और जबकि उस अभाव को हम अनुभव करके अपने भीतर कहीं न कहीं टूटते जा रहे हैं, तब अवश्य ही हम पीछे मुड़कर या आगे उड़कर उस अभाव की पूर्ति करने को आतुर होंगे। यह आतुरता भी तो कहीं न कहीं अभिव्यक्त होनी ही चाहिए। शास्त्रीय काव्य में परम्परा-चित्रण या भावी स्वप्निल कल्पना के माध्यम से उसी की पूर्ति होती है। हम यह स्वीकार करते हुए भी कि हमारे जीवन के अधिकांश संदर्भ बदल गए हैं, या बदलते जा रहे हैं यह कैसे मान सकते हैं कि पुराने संस्कारों से एकदम हमको मुक्ति मिल गई है तथा वह हमारी अवचेतन में, कहीं भी कोई विघटन-प्रक्रिया नहीं जमाए बैठे। जब ऐसा है तब शास्त्रीय काव्य के अति-रिक्त उन सबका उपचार क्या है। अतः जीवन की दृष्टि से भी शास्त्रीय काव्य का महत्त्व अस्वीकार नहीं किया जाना चाहिए। फिर हर काव्य का उद्देश्य जीवन के स्थायी मूल्यों की रक्षा करना होता है। शास्त्रीय काव्य हमें यह दृष्टि तो देता ही है कि हम उन मूल्यों की समग्रता को समझ सकें : आधुनिकता की अपेक्षाएँ कहीं हमारी मूल्य-दृष्टि को बांध न दें। इसके लिए एक बहुत बड़ा सचेतक तत्त्व शास्त्रीय काव्य प्रदान करता है।

जहाँ तक शिल्प के विभिन्न आयामों का प्रश्न है, मुझे विवाद की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। 'नयी कविता' में भाषा और कथ्य सम्बन्धी जो प्रयोग हुए हैं, या हो रहे हैं; वैसे प्रयोग शास्त्रीय काव्य में भले ही न हों किन्तु उन प्रयोगों की उपलब्धियों का वैभव नई कविता के समान ही शास्त्रीय काव्य के भी पास है। एक लम्बी परम्परा में शास्त्रीय काव्य ने शिल्प का विराट परिवेश प्राप्त किया है, भले ही यह रूढ़ हो गया हो, परन्तु उसका अपना महत्त्व है, इसे ईमानदार और निष्पक्ष आलोचक अस्वीकार नहीं कर सकता। कुछ लोग यह कहते है कि शास्त्रीय काव्य तुकबंदी मात्र है और उसका कथ्य उपदेश प्रधान है। परन्तु यह भी कोई स्वस्थ दृष्टि नहीं मानी जा सकती। यदि अज्ञेय यह कहते हैं कि :—

अच्छी कुण्ठा रहित इकाई।
भेदों-भरे समाज से।
अच्छा अपना ठाट फकीरी।
मँगनी के सुखसाज से॥

तो वह 'तुक' और 'उपदेश' के दोषों से रहित है और इसी बात को आदि कबीर या तुलसी इसी भाषा में कहते हैं तो तुकबंदी और उपदेश मात्र है, यह कहना नितान्त हठवादिता होगी।

आज नयी कविता में 'बिम्ब' और 'रूप' के चित्रण अपनी विशेषता है, किन्तु शास्त्रीय काव्य में उसका अभाव है, ऐसी बात भी नहीं। जिस छायावादी

काव्य को पिछले दिनों बराबर कोसा जाता रहा या जिन गीतों के सम्बन्ध में ऐसी नई कविताएँ लिखी गईं :—

उल्लू के पट्ठे

× × ×

औरत रिझाऊ गीत लिखते हैं। ("कृति" मासिक) उन में भी रुचि पूर्वक देखने पर अनेक संश्लिष्ट 'बिम्ब' तथा सूक्ष्मतम क्षण-चित्रण मिल सकते है।

अतः आवश्यकता इस बात की है कि हम नये-पुराने के संघर्ष की अनावश्यकता को अनुभव करें और मात्र दुराग्रह के कारण शास्त्रीय या नये किसी भी प्रकार के काव्य की उपेक्षा न करें। गत दशक में जितनी नई कविता लिखी गई है उससे चौगुना शास्त्रीय काव्य लिखा गया है। यह बात दूसरी है कि आधुनिक जीवन का काव्य होने के कारण 'नई कविता' की आवाज आज सबसे अधिक ऊँची है, किन्तु जीवन क संस्कार-दृष्टि को आगे पीछे घुमाने वाले शास्त्रीय काव्य की आवाज भी समाप्त नहीं हो सकती—न होनी ही चाहिए। जिस प्रकार खड़ी बोली काव्य-चेतना के विकास के पश्चात् ब्रजभाषा की कविता मर नहीं गई, अब तक उसका अपना अस्तित्व और महत्त्व है। उसी प्रकार 'नई कविता' की विकासशील चेतना शास्त्रीय काव्य के महत्त्व का निर्मूलन नहीं कर सकती। अतः सृजन और समीक्षक के क्षेत्र में प्रतिभा व्यय करने वाले युग-चेतानाओं को चाहिए कि वे अब नए-पुराने का बाह्य या आन्तरिक संघर्ष समाप्त करके हिन्दी कविता के समस्त महत्त्व का उद्घाटन करने में अपनी ईमानदारी दिखाएँ।

: ३ :

साहित्यकार: कृतिधर्मी या व्यापारी

साहित्य-सृजन की प्रक्रिया के साथ दो महत्त्वपूर्ण प्रश्न जुड़े हुए हैं। सबसे पहला प्रश्न यह है कि साहित्य किसके लिए लिखा जाता है? और इसी से जुड़ा हुआ दूसरा प्रश्न है-साहित्य की उपादान-भूमि कौनसी है?

आज का हिन्दी साहित्य बयालीस की क्रान्ति तक के साहित्य से इन दोनों प्रश्नों के आधार पर पर्याप्त भिन्न हो गया है। उचित समीक्षण के अभाव के कारण उसकी दशा-दिशा का शुद्ध मूल्यांकन नहीं हो पा रहा है। फलतः जीवन और साहित्य का सम्बन्ध धीरे-धीरे कम होता जा रहा है। अतः जो साहित्य आज लिखा जा रहा है, उसे उपर्युक्त दोनों प्रश्नों की कसौटी पर परखना आवश्यक हो गया है।

मध्यकाल तक का अधिकांश साहित्य जनता के लिए लिखा जाता था। उसकी उपादान-भूमि भी जन-जीवन ही थी। फलतः वह साहित्य जन-मानस को शब्द का अमृत दे सका, जीवन में रम कर उसको उदात्त सौन्दर्य से परिपूर्ण कर सका। जनता की जीवन-गत परिस्थितियों और अनुभूतियों से कहीं कहीं दूर जाने पर भी वह परकीय आधारों पर निर्मित नहीं हुआ था, अतः उसमें पाठक के मानस को प्रभावित करने की अद्भुत शक्ति समाहित रही। आज भी सूर तुलसी और कबीर से भूषण तक की कविताएँ सामान्य जन को पर्याप्त मात्रा में प्रभावित करने की क्षमता रखती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि मध्यकाल तक के साहित्य का लक्ष्य ईश्वर या राजा होता था, किन्तु इसके साथ ही उसका कवि यह नहीं भूलता था कि वह अपने देश की जनता के लिए लिखता है। इस सृजन-दृष्टि के कारण ही अपने साहित्य की उपादान-भूमि को अपने देश के जन-जीवन से अलग नहीं होने देता था। आधुनिक काल में भी बयालीस की क्रान्ति तक कुछ ऐसी ही स्थिति रही। इस समय तक जो साहित्य लिखा गया, उसमें जन-जीवन से सञ्चित अनुभूतियों, कल्पनाओं, विचारणाओं और भावनाओं का समावेश था, यद्यपि वादों से ग्रस्त कुछ सामग्री उस समय भी ऐसी आ गई थी, जो देश के जीवन से न तो उत्पन्न थी और न उसका लक्ष्य ही देश की जनता के लिए लिखा जाना था। अधुनातम साहित्य उसी परकीय अंकुर का फल है। आज हम स्पष्टतः देखते हैं कि अधिकांश साहित्य जन-जीवन की उपेक्षा करके लिखा जा रहा है। वह जिस वर्ग के लिए लिखा जा रहा है, उसकी स्थिति

बड़ी विचित्र है। वह वर्ग भारत में रहता है, किन्तु सीमा-संकट, अन्न-संकट, नैतिक-संकट, आदि अनेक राष्ट्रीय संकटों का उसे बोध नही, किन्तु विदेशी जीवन के आरोपित संकटों की अद्‌भुत कल्पनाओं के वायवी समाधान खोजने में उसे आनंद आता है। वह साहित्य यदि देश के जीवन से जुड़ कर नहीं चलता तो आज इन संकटों को समझने की क्षमता का विस्तार हुआ होता! किन्तु हुआ तो यह है कि स्वाधीनता के पश्चात् साहित्य को एक वर्ग-विशेष का पाठ्य बनाकर संकीर्ण आयाम दिए गए है। विचित्र बात यह है कि उसकी उपादान-भूमि उस वर्ग-विशेष के जीवन से भी जुड़ी हुई नहीं है। उस वर्ग-विशेष की अनुभूतियों, भावनाओं और कल्पनाओं का भी उसमें समावेश नहीं है। उसकी उपादान-भूमि का सीधा सम्बन्ध विदेशी साहित्य की अनुकृति से जोड़ा जा रहा है और यह सब हो रहा है नवबोध के नाम पर।

नव बोध किसको और किस वस्तु का? देश की समस्त जनता को अपने जीवन की नई परिधियों और आयामों का या दो-चार प्रतिशत तथा-कथित परिष्कृत संस्कार वाले लोगों को परकीय जीवन की परिधियों का? इस प्रश्न को उपेक्षित कर देने के कारण ही आज का हिन्दी-साहित्य सामान्य जन-जीवन से असम्बद्ध होकर केवल दो-चार प्रतिशत व्यक्तियों के द्वारा ही लिखा-पढ़ा जा रहा है। "काव्यं यशसे" की सिद्धि—प्रकाशन, पुरस्कार, विज्ञापन आदि जिन साधनों से हो रही है, वे साधन ९५ प्रतिशत जनता के श्रम से प्राप्त किए जा रहे है, किन्तु उसके जीवन-संकट की शत-प्रति-शत उपेक्षा हो रही है।

जब चीन की लाल सेनाएँ हिमालय के सिर पर चढ़कर हमारी घाटियों में उतर रही थीं और जनता को जीवन व्यापी युद्ध-संकट ने धर दबाया था, तब उच्चस्तरीय और शाश्वत साहित्य-सृजन के समर्थकों ने यह धारणा प्रकट की थी कि साहित्यकार को इस समय लेखनी रखकर इस संकट को पचाना चाहिए, तभी वह युद्ध की समस्या पर शाश्वत साहित्य का निर्माण कर सकेगा। किन्तु वह पाचन-क्रिया अभी तक पूर्ण नहीं हुई और दूसरा युद्ध-संकट फिर सिर पर आगया। हमारा साहित्यकार देश के किसी भी वर्ग को उचित मनोबल देकर उस संकट का सामना करने के लिए तैयार नहीं कर सका। यदि ध्यान से देखा सुना, और पढ़ा जाय, तो पता चलेगा कि साहित्यकार वर्तमान भारतीय जीवन-संकट के लिए स्वयं को एक प्रतिशत भी उत्तरदायी नहीं मानता। वह उसका समस्त दायित्व नेताओं और व्यापारियों के सिर मढ़ता है। सोचने की बात यह है कि आज का साहित्यकार उन नेताओं और व्यापारियों के लिए लिखता कितना है और क्या लिखता है? लिखते समय तो वह ऐसे शाश्वत के निर्माण को अपना लक्ष्य बनाता है, जो विदेशी शाश्वत-तत्त्वों की अनुकृति में सफल हो और दायित्व प्रश्न खड़ा होने पर वह उन्हीं वर्गों को लक्ष्य बना लेता है, जिनकी वह उपेक्षा करता जा रहा है।

मेरी दृष्टि में साहित्य-सृजन एक कर्म है। कर्म भी दो प्रकार के होते हैं--एक कर्म है कलाकार का कृति-निर्माण और दूसरा कर्म है कला-कृति का व्यापार। निर्माण-कर्ता कृति में अपनी समस्त जीवनी शक्ति भर देता है, जबकि व्यापारी उस कृति का समस्त जीवन रस पी जाना चाहता है। आज के साहित्यकर्मी को भी यह निर्णय करना है कि वह साहित्य का कलाकार है या व्यापारी ? वह अपनी कृति जन-जीवन से सञ्चित स्वकीय अनुभूतियों से बनाकर लाया है या इसने विदेशी परकीय अनुभूतियों का शब्द व्यापार यश और धन के पूर्जन के लिए किया है ? वह कितना ही प्रच्छन्न प्रयास क्यों न करे, उसके प्रयास की दिशा से पाठक अपरिचित नहीं रह सकता। यह तथ्य अधिक समय तक छिपाया नहीं जा सकता कि आज का साहित्यकार अपने कृति-धर्म से च्युत होगया है, वह अपने कृति-व्यापार के प्रति अधिक, जागरूक है। इसी का यह परिणाम है कि आज भारतीय जीवन में जो संकट व्याप्त है, उनकी न तो अनुभूति उसके साहित्य में आ रही है और न ऐसी कल्पनाएँ तथा विचारणाएँ ही जन्म ले रही हैं जो उस संकट से मुक्ति का भविष्य स्पष्ट कर सकें।

आज की समीक्षा मैथिलीशरण गुप्त तक की उस परम्परा की हँसी उड़ाती है, जिसने भारतीय मानस को एक रस रखकर जीवन की कई संभावनाओं के द्वार खोले थे। किन्तु उस परकीय परम्परा को पोषण देती है, जिसमें विस्मित करने वाले तत्व तो अधिक हैं, किन्तु जिनका अर्थ खुसरो की पहेलियों से अधिक नहीं है। विदेशी चिन्तना और कल्पना को जिस दृष्टि से ग्रहण किया जा रहा है, वह दृष्टि आरंभ में वताए हुए प्रश्नों से असम्वद्ध है। आज का साहित्यकार यह निश्चय करके चल रहा है कि वह उन दो-चार प्रतिशत पाठकों के लिए ही लिखता है, जिनके मानस में नए संस्कार जन्म ले चुके हैं तथा जो उसके प्रतीकों और वौद्धिक पहेलियों को समझ सकते हैं। वह शेष पाठकों को संस्कारहीन वतलाता है, क्योंकि वह उसकी विदेशी अनुकृतियों के अर्थ-वोध में अपने जीवन की संगति नहीं पाते। उन्होंने कवीर तक की उलटवासियों में रस लिया था किन्तु अधिकांश नवीन साहित्य शिक्षित व्यक्तियों के लिए पुस्तकें वेचने वाले "बुक स्टालों" तक पर आदर नहीं पाता, सामान्य जन को प्रभावित करने की तो वात ही क्या ! इसका कारण क्या है ? स्पष्ट है कि हमारा आज का साहित्य सृजन की मूल प्रेरणा अर्थ और यश की व्यापारी वुद्धि से लेकर निर्मित हो रहा है।

वह सामान्य पाठक के लिए न लिखा जाकर एक वर्ग-विशेष के लिए लिखा जाता है। उसकी उपादान-भूमि देशी कम विदेशी अधिक होती जा रही है। इसी का यह परिणाम है कि हमारा आधुनिक साहित्य जीवन से विच्छिन्न होकर पुस्तकालयों

में जा पड़ा है और उसका शाश्वत-तत्व-जन मानस में न फैलकर भावी शोध को महत्त्व देना चाहता है। आज देश में राष्ट्रीय और सामाजिक संकट की जो अवस्थाएँ हैं, उन्हें उत्पन्न होने की छूट उसी साहित्य ने दी है। यदि साहित्यकार सचेत न हुआ और उसने व्यापार-बुद्धि का त्याग कर कृति-धर्म को साकार न दिया, तो उसके कर्म की व्यर्थता सिद्ध हुए बिना न रहेगी।

: ४ :

नयी कविता, दशा-दिशा

समसामयिक हिन्दी कविता प्रवन्ध काव्य, गीतिकाव्य, गीत, चतुष्पदियां, छन्द मुक्तक और नवगीत आदि कई रूपों में लिखी जा रही है। संख्या की दृष्टि से प्रथम चार रूपों में रची जाने वाली कविताओं का अनुपात अब भी अधिक है, यद्यपि यह युग छन्द-मुक्तक और नवगीत का है। आज उसी कविता को अधिक महत्त्व दिया जाता है, जो अंतिम दो रूपों में लिखी जाती है। 'कथ्य' की अपेक्षा आज का पाठक या समीक्षक 'रूप' की ओर अधिक ध्यान देता है और यही कारण है कि 'रूप' की नवीनता की दृष्टि से अंतिम दो प्रकार की कविता प्रथम चार प्रकारों में लिखित कविता से अधिक आकर्षण का विषय बनती जा रही है।

नयी कविता का आरम्भिक बोध निश्चय ही 'रूप' से होता है। जो पाठक 'नयी कविता' की परिभाषा नहीं जानते वे भी छन्द-मुक्त कविता को देखते ही उसे 'नयी कविता' की संज्ञा दे डालते हैं। यह कहना अनुचित न होगा कि अनेक समीक्षक भी जब वे अधिक गंभीरता से नयी-पुरानी का आन्तरिक भेद नहीं देखते होते, तब छन्द-मुक्त कविता को ही 'नयी कविता' घोषित करते हैं। 'नव गीत' एक नितान्त नवीन आन्दोलन है और यहां उसकी चर्चा भी अपेक्षित नहीं है, क्योंकि हमारा विवेच्य विषय नयी कविता की दशा और दिशा तक सीमित है। अतः आगे उसी पर कुछ विस्तार से विचार करना है।

एक बात ऊपर कही गई कि 'नयी कविता' को समझने वालों में कुछ ऐसे है, जो नयी-पुरानी का अन्तर 'रूप' पर आधारित करते है। वस्तुस्थिति यह है कि समझने वाले ही नही, अनेक लिखने वाले भी 'रूप' के आधार पर ही नयी-पुरानी का अन्तर करते है। इधर नयी कविता पर पर्याप्त आलोचना प्रत्यालोचना हुई है, फिर भी यह धारणा ज्यों की त्यों चली आ रही है कि छन्द मुक्त कविता ही 'नयी' है। यदि ऐसा न होता तो विवेचन करते समय गीत, प्रवन्ध-काव्य आदि को भी एक बार तो परखा ही जाता कि उनमें से किसी भी काव्य में किसी सीमा तक 'नयी कविता' है या नही ? परन्तु इसमें दो मत नही हो सकते कि ऐसा नहीं हुआ, आवश्यक भी नही समझा गया, क्योंकि उनमें छन्द व गीत का बन्धन है। और नयी कविता की

प्रमुख धारणा है कि उसमें छन्द व गीत का बन्धन नहीं होना चाहिए। तब निर्णय हुआ कि कोई माने या न माने, छन्द-मुक्तता को ही अधिकांशतः 'नयी' विशेषण से जोड़ा जा रहा है। पर यदि कोई प्रबन्ध काव्य छन्द-मुक्त शैली में लिखा जाय, तो वह 'नयी कविता' होगा या नहीं ? उत्तर होगा कि उसमें प्रवन्धात्मकता का दूसरा प्राचीन आधार वर्तमान है, अतः वह 'नयी कविता' नहीं हो सकता। तब यह मानना होगा कि छन्द-मुक्तता के साथ प्रवन्धात्मकता का अभाव भी नयी कविता' के 'रूप' का आधार है। पर अधिक ध्यान से देखने पर पता चलता है कि 'नयी कविता' की परिभाषा कुछ व्यक्तियों की कलम से भी बँधी हुई है। वे व्यक्ति क्या लिखते हैं, यह देख कर भी 'नयी कविता' के आन्दोलन में अनुगामी बने हुए सभी समीक्षकों और सरुचि उनका अनुकरण करने वाले पाठकों को नयी कविता' का निर्णय करना पड़ता है। यही कारण है कि 'कुरुक्षेत्र', 'एकलव्य', 'उत्सर्ग', 'सारथी' आदि प्रबन्ध-काव्यों में कई सर्गों की छन्द-मुक्तता तो उन्हें 'नयी कविता' के निकट ले ही नहीं जा पाती, कथ्य क नितान्त नयी दृष्टि भी उन्हें 'नयी कविता' की परिभाषा तक नहीं पहुँचाती, जबकि मुक्तिबोध, शमशेर बहादुर,सर्वेश्वर दयाल, भारत भूषण, अज्ञेय आदि की हर कविता चाहे वह कथ्य की दृष्टि से पुरातन हो, चाहे छन्द का बन्धन लेकर चल रही हो और चाहे प्रबन्धात्मकता से जड़ी हुई हो—नयी कविता के स्वर्ण-सिंहासन पर प्रतिष्ठित की जाती है। अज्ञेय की ये पंक्तियाँ भक्ति कालीन अभिव्यक्ति से किसी प्रकार भी आगे का कथ्य प्रस्तुत नहीं करतीः—

अच्छी कुण्ठा रहित इकाई
भेदों—भरे समाज से।
अच्छा अपना ठाट फकीरी
मंगनी के सुख—साज से।[1]

किन्तु फिर भी वे 'नयी कविता' के प्रतिनिधि-संग्रह के आवरण पर स्थान पाती है, यद्यपि उनमें छन्द-मुक्तता नहीं है और कथ्य की नवीनता भी नहीं है। इसी प्रकार ये पंक्तियाँ भी नयी कविता के प्रतिनिधि संग्रह में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है, किन्तु पुरातन कथा और अभिव्यक्ति से ये कितनी दूर है, यह विचारणीय हैः—

साँस का पुतला हूँ मैं,
जरा से बँधा हूँ और
मरण को दे दिया गया हूँ,

---

१. 'अरी ओ करुणा प्रभामय' प्रथम कविता का एक अंश

पर एक जो प्यार है न, उसी के द्वारा
जीवनमुक्त मैं किया गया हूँ।[2]

प्रबन्धात्मकता की दृष्टि से 'कनुप्रिया' और 'संशय की एक रात' प्राचीनता के ही निकट है, किन्तु वे धर्मवीर भारती और नरेश मेहता की कृतियाँ होने के कारण 'नयी कविता' का प्रतिनिधित्व करती हैं। कुछ नये कवियों का एक पुराना नारा यह है कि 'नयी कविता' में छन्द-लय के स्थान पर अर्थ की लय होती है।[3] और इस अर्थ-लय का सम्बन्ध भी कविता के रूप से ही है।[4] आश्चर्य की बात तो यह है कि इस अर्थ लय का रहस्य केवल लिखने वाले ही जानते हैं। अतः नये कहे जाने वाले व्यक्तियों द्वारा लिखी गई हर छन्द मुक्त कविता 'नयी कविता' बन जाने का सौभाग्य पा जाती है। शमशेर अज्ञेय, नरेश मेहता आदि जो कुछ लिख दे, वही 'नया' और जो न लिखें वही 'पुराना' है। जिन कविताओं को इन 'नयों' का दल बढ़ाने वाले समीक्षकों ने 'नया' बताया है ये भी 'नयी बन गई है। अतः ऐसी स्थिति आ गई है कि जो कवि आँख बन्द करके 'नये' का नारा लगाने वालों के स्वर में स्वर मिला देता है, वह जो कुछ भी लिख दे, वह सब 'नया' है। परन्तु अन्य कोई समझे या न समझे, पाठक तो कभी न कभी यह समझ ही जाता है कि कहाँ 'नयी' बात कही जा रही है और कहाँ 'नयी' कहकर अपने व्यक्तित्व का मात्र प्रचार किया जा रहा है। अतः चतुर नये लोगों ने एक अन्य नारा लगाया है कि केवल छन्द-मुक्तता और अर्थ लय ही नयी कविता के लक्ष्य नहीं है, उसमें बिम्बों और प्रतीकों का विधान नया होना चाहिये। फलतः 'नये' दल में सम्मिलित होकर सस्ती ख्याति जल्दी लूट लेने के आकांक्षी कुछ नये कवि विचित्र बिम्बों और प्रतीकों का अम्बार खड़ा करने लगे हैं। आजकल यह प्रवृत्ति अत्याधिक बढ़ रही है। ऐसी सभी तथाकथित नए कवि सदैव सतर्क रह कर यह भी देखा करते हैं कि 'नये' के नेता 'नयी कविता' की किस 'नयी' पहचान पर पहुँचते हैं। वे नया संकेत आते ही अपनी लेखन दृष्टि में परिवर्तन कर डालते हैं। दृष्टि की बात ही नहीं, संकेत का अनुकरण वे यहाँ तक करते है कि अपनी रचनाओं के नाम तक उन्हीं गिने-चुने शब्दों मे रखने लगते है, जिन का प्रयोग संकेत दाता करता है। यदि ऐसे नये कवियों से पूछा जाय कि भाई! जिसे तुम नया कहकर पाठक को चौंका रहे हो उसमें 'नया' क्या है? तो वे तुरन्त ही कहते हैं। "हमने नया प्रयोग किया है छन्द-मुक्तता स्वीकार की है, प्रबन्धात्मकता का त्याग

---

२. आंगन के पार द्वार, पृष्ठ ३६

३. नयी कविना, अंक ३, पृष्ठ ३

४. नयी कविता, अंक ३, पृष्ठ ५

किया है 'नये' के नेताओं का हम सावधानी से अनुकरण करते हैं उनके संकेत पर उनका डंका पीटते हैं और वे कहें तो हम जिन्हें वस्तुतः नया लिखने पर 'नया' नहीं मानते, उन्हें गालियाँ तक दे सकते हैं। बड़े साहस से हम करते ही नहीं, 'कृति' नाम की अपनी प्रतिनिधि पत्रिका में 'नयी कविता' के ऐसे उदाहरण छपाते भी रहे हैं कि:—

"उल्लू के पट्ठे
× × ×
× × ×
× × ×
औरत रिझाऊ गीत लिखते हैं।"

हम जटिल बिम्बों और रहस्यमय प्रतीकों का अम्बार लगाते हैं। क्या फिर भी आप हमें 'नया' नहीं मानेंगे।" प्रबुद्ध पाठक कहता है—"नहीं हम इन विशेषताओं को तो नया नहीं मान सकते क्योंकि ये सब बातें तो किसी न किसी रूप में पुरातन काव्य की ही नयी कड़ियाँ हैं।" तब वे कुछ चकित होते हैं। गाली देने से भी जब उनकी कविता 'नयी' बनकर प्रबन्ध काव्य, गीतिकाव्य आदि से अधिक ऊँचे आसन पर नहीं जा सकती, तब वे कुछ और सहारा खोजते हैं।

इस 'नये' की खोज में फिर जो कुछ किया जाता है, वह नितान्त स्वकीय जीवन से बाहर का होता है और वह सब है—पाश्चात्य जीवन की कुण्ठाओं, अनास्थाओं तथा विशृंखलताओं का अन्ध स्वीकार। इसी स्वीकृति के आधार पर वे नये कवि आजकल बहुत आतुरता से अपना व्यक्तित्व खण्डित करते जा रहे हैं। वे जीना तो चाहते हैं भारत में और श्वास माँगते है पाश्चात्य जीवन की घुटन से। मनोविज्ञान का घोल अपनी कलम में भर कर वे निर्मम डाक्टर की तरह कविता को 'मरीज' मानते हुए उसकी नसों में इन्जेक्शन देते हैं। फल यह हुआ है कि नयी वायु में सुगंध लेने की आकांक्षिणी कविता नयी घुटन का विष पीकर रुग्णतर होती जा रही है। यदि इस प्रकार के डाक्टरों को हटा कर उसे नयी सुगंधित हवा देने वाले मालियों के पास न पहुँचाया गया तो वह शीघ्र ही श्मशान यात्रा करने वाली है।

तथाकथित नयी, परन्तु रुग्ण कविताओं के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते है। यथा 'नया' विशेषण धारण करने वाले एक कवि महाशय लिखते है—:

भीतर जितना कुछ था
हमने गा दिया

इससे पहले कि हमें कोई आवाज दे कहीं से
आओ इस अंधकार में अपने नाम कहीं लिख दें
आओ खो जाएं
आने वाले पैरों के निशान हो जाएं संभवत: यही कहीं—दिन छिपे अन्धेरे में
फिर कोई सोचेगा
हमने इतिहास नहीं रचा
सिर्फ प्यार किया।[५]

ध्यान से देखिये और बताइये कि इसमें क्या नवीनता है ? यही न कि गाने की भीतर से इच्छा है, पर गाया नहीं जा रहा, 'गा दिया' कह कर संतोष किया जा रहा है। एकाकीपन की स्थिति है। किसी अज्ञात की 'आवाज' की आशा है, किन्तु उस आवाज को सुनने के लिये कुछ समय तक चलते रहने की सामर्थ्य नहीं, केवल उस 'किसी' के पद-चिन्ह बनने भर की क्षमता है, फिर भी वह 'पद-चिन्ह' बनाने वाला प्रकाश लाएगा, इतनी आस्था नहीं। वह भी जब आएगा तब दिन नहीं होगा, अन्धेरे में ही 'उलूक' की तरह सोचेगा और मानेगा कि हमने इतिहास नहीं रचा, केवल प्यार किया है।

'उलूकी अन्धकार' के लिए पद चिन्ह बन कर 'प्यार कर्ता' का सम्मान पाने वाले अनास्था और अविश्वास की भूमि पर खड़े इस कवि के काव्य में जीने योग्य कुछ भी 'नया' है, यह प्रबुद्ध पाठक तो स्वीकार करेगा नहीं, चाहे ये पंक्तियां 'मनोविज्ञान' की पुस्तक हाथ में लेकर प्रबुद्ध पाठक के लिए लिखी गई हों और चाहे लक्ष्मीकान्त वर्मा यह वकालत करें—कि आत्म विश्वास का यह परिवेश नयी कविता द्वारा प्रस्तुत हो सका है।[६]

पर गनीमत है कि प्यार की मात्र इतनी नवीनता को ही 'नया' कह कर कवि चुप हो गया है। अन्य अनेक 'नये' के निर्माता तो ऐसे हैं, जो कबीर की तरह 'फकीरी ठाट' का ढोल पीट कर भी 'नये' का लेबिल लगाते हैं और इसी का फल है कि आज वास्तविक नयी कविता को ऐसी भीड़ में कहीं खोया जा रहा है, जहाँ व्यक्तित्व को पुजाने के ढोल बज रहे हैं, जहाँ दलदलों की नारेबाजियां दम घोंट रही हैं जहां साधनारत श्रेष्ठ कवियों को 'उल्लू के पट्ठे' का अभिधान दिया जा रहा है। इस कोलाहल की भयंकर स्थिति में भाषा इतनी विकृत हो गई है कि अपनी समस्त अर्थ—

---

५. केदारनाथसिंह की कविता, 'नयी कविता के प्रतिमान', पृष्ठ १७८
६. नयी कविता के प्रतिमान, पृष्ठ १७८

वत्ता ही खो बैठी है ! यही नहीं, वह अपना रूप भी विकृत करती जा रही है। व्याकरण उच्चारण, प्रेषणीयता, अर्थ व्यापकता आदि की समस्त सीमाएँ खण्डित करके वह आज अपने जीवन के लिए 'त्राहि त्राहि' पुकार रही है। 'नयी कविता' की इस समस्त भयंकर दशा को सिद्ध करने वाली तथा कथित नयी कविताओं के कुछ अन्य उदाहरण देखिये। एक कविवर लिखते हैं—

मैं
संभलौके का दीपक सही
सगुन भर करने को जलता हूँ
अपने को ही बुझाकर
सुबह की पगडण्डी पर
पंगु-सा ललकता हूँ।[७]

अन्य क्या विशेष 'नयापन' है इस कविता में उसका पता तो लगाइये ही, साथ ही कवि महोदय से 'संभलौके' का अर्थ भी पूछिये। पूछिये कि यह शब्द हिन्दी के किस शब्द कोश में इस रूप में मिलता है?

यह तो 'नयी कविता' है ही, यह भी 'नयी कविता' है जिसमें कवि महोदय ने पुराने अलंकारों से सजाने की जान बूझकर चेष्टा की है तथा जिसमें पुराने तिल और गुलाब का सहारा लेकर ही सौन्दर्य को अभिव्यक्त करना सरल समझा गया है—

'केटकीले'
काले संगमरमर की काढ़ी गई सी
कामदेव की कुसुम कमान सी
कमनीय कमसिन कामिनी
कारखाने के कमकर कन्ट्रोलर की सेक्रेटरी
कहीं प्रकाश, कहीं छाया
कहीं तिल कहीं गुलाब
गोरे और साँवले की शैली है
कविता कहानी की ![८]

एक और नयी कविता देखिये:—

आवाज
नींद की सांसों में

---

७. देवनारायण की कविता
८. नयी कविता, अंक ३, पृष्ठ ९३—९४

डूबी
डूबती ही रही
खो गई
लहराते किशमिशी गेसुओं में
छाया भी हिली नहीं
(एक बोलती छाया)
और पड़ोस में खड़े रात भर
परजाते की गंध
बसती रही
चुपचाप ![9]

यह पूरी कविता है। यों व्याख्या करने को कुछ भी की जा सकती है, किन्तु कथा से लेकर भाषा तक कहीं भी इसमें नयी का स्पर्श नहीं। हाँ, किशमिशी गेसुओं और 'परजाते' की गंध से अवश्य पाठक पहली बार परिचित होता है।

एक अन्य 'नयी कविता' पढ़िये—पूरी की पूरी—ज्यों की त्यों। शीर्षक है—'मूल्य-निपात'। पंक्तियाँ हैं:—

सिक्का है
खरा और टकसाली
चलेगा हाथों हाथ।
संशय की चोट न दो
न खनकाओ बार-बार
दुनियाँ की नजरों में
मूल्य गिर जाएगा
तुम्हारा !![10]

हमें एतराज इससे नहीं कि यह कविता नहीं है, पर पूछना यह है कि इसमें 'नया' क्या है, जो पुराने के आगे का कदम माना जाय ? इसी प्रकार निम्नांकित पंक्तियाँ भी इस प्रश्न का उत्तर चाहती है कि ऐसी कविताओं से 'नयी कविता' का गौरव किस सीमा तक बढ़ेगा:—

सिन्दूर की मंदाकिनी में खड़ी, भींगी सद्यःस्नाता·······तुम !

---

९. पदमधर त्रिपाठी, सीमान्त अंक १, पृष्ठ ५१
१०. रवीन्द्र भ्रमर, सीमान्त, अंक १, पृष्ठ ५

फड़फड़ाते स्वातियों को भरे जेबों में खड़ा

मैं

काँपता हूँ !

खोलता हूँ धँसे नीले अंक से लंगर

द्वितीया चन्द्रमा का,

देखता: अभिषेक भोले मंगलों का

पूर्णता नारीत्व की !

मैं—

श्रेय हंसों को विवश ही छोड़ता हूँ ।[11]

अब भला बताइये कि ऐसी कविताओं का अम्बार लगाकर जहाँ साधना-रत कविधर्मी कलाकारों की नितान्त 'नयी' अभिव्यक्तियों को उपेक्षित किया जा रहा हो, वहाँ 'नयी कविता' का विकास अवरुद्ध नहीं होगा तो और क्या होगा ? व्यक्तियों के पहाड़ों को ध्वस्त करके मात्र 'नयी कविता' को जब 'नयी कविता' घोषित किया जायगा, तभी हिन्दी कविता का नया विकास अपने समस्त वैभव के साथ सामने आ सकेगा । जब तक सस्ती ख्याति लूटने और भीड़ का नेतृत्व चाहने की आकांक्षा शेष है, तब तक 'डालडा' की तरह धर्मयुग, ज्ञानोदय, कल्पना आदि किसी भी पत्रिका में चाहे कितने ही चौंकाने वाले विज्ञापन क्यों न छपते रहें 'नयी कविता' को शुद्ध घी की तरह रुचि से पचाने की क्षमता पाठक में नहीं बढ़ सकती ।

हमें यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि 'साहित्य' मात्र कला नहीं है । वह 'साहित्य' भी है । हम उसे मनोविज्ञान, दर्शन आदि का घोल भी नहीं मान सकते । यदि ऐसा होता तो उसे 'साहित्य' नाम देने की आवश्यकता ही न पड़ती । अतः कला या चातुर्य का सहारा लेकर कलावादी प्रवृत्तियों में हम न तो 'नयी कविता' को प्रतिष्ठित कर सकते हैं और न विदेशी अस्तित्ववाद, फ्रायडवाद, मार्क्सवाद आदि का दर्शन पिलाकर हम उसे जीवित रख सकते हैं । नयी कविता हमारे साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग बन चुकी है । उसे हमारे जीवन से सहज रूप से जुड़ कर चलना होगा और वह तभी संभव, है जब हम रूप के साथ-साथ कथ्य के प्रति भी पूर्ण सावधानी बरतें । हम अपनी कविता जो कुछ कहें, वह युग, एडलर, फ्रायड, मार्क्स, सार्त्र, कामू, कीर्कगार्ड आदि का 'उल्था' न हो, हम उसे अपने जीवन की धरती पर खड़ा करें । और वही सत्र अभी 'नयी कविता' नहीं हो रहा है । इसलिए हम लोक से दूर व्योमचारी काव्य का फिर सजन कर रहे हैं । छायावादी व्योम-विहार भी कुछ

---

११. रमेश कुन्तल, सीमान्त, अंक १, पृष्ठ ३

सार्थक था, क्योंकि उसमें कल्पना का सौंदर्य तो था, किन्तु आज तो 'नयी' के नाम पर लिखी जाने वाली अधिकांश कविताओं में जीवन तो है ही नहीं वह कल्पना-सौंदर्य भी नहीं है। तब उनको पढ़ कर हमारा पाठक जिएगा किसके बल पर ? केवल कुण्ठाओं, अनास्थाओं और अविश्वासों की अंधकारमय दुनिया में भटकाने से तो यही अच्छा है कि ऐसी 'नयी कविता' लिखी न जाय। फिर तो पुराना ही क्या बुरा है, जो कहीं न कहीं हमें टिकाता तो है, प्रकाश की कोई किरण तो देता है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि 'नयी कविता' का अभियान युग की मांग थी और उसको हिन्दी साहित्य में समझा गया। किन्तु वह मांग अभी पूरी नहीं हुई है। नयी कविता का नाम तो आया है, पर नयी कविता अभी उतनी मात्रा में नहीं आई, जितनी मात्रा में 'नयी' के नाम से कूड़ा-कर्कट आया है, आज आवश्यकता इस बात की है कि आलोचना का कलम-कुल्हाड़ा निर्ममता से चलाया जाय और तथाकथित 'नये' को, जिससे साहित्य में गंदगी फैली है एवं कविता की धारा में भयंकर गतिरोध पैदा हुआ है—काटकर धारा से अलग कर दिया जाय। ऐसा करना ही पड़ेगा, चाहे आज हम व्यक्ति-पूजा के कारण कितने ही अंध-भक्त बने रहकर एक ओर अन्य समस्त रूपों में लिखी जाने वाली श्रेष्ठ कविता को भी उपेक्षित करते रहें और दूसरी ओर 'नये' का 'लेबिल' लगाकर आने वाले हर 'अकाव्य' को काव्य मानने का अभिनय करते रहे। जिस दिन नयी कविता की वास्तविक दिशा का बोध पूर्णतः उभरेगा उस दिन निश्चय ही नए पुराने का न तो संघर्ष रहेगा, न रूप, व्यक्ति आदि के आधार पर 'नयी कविता' के सम्बन्ध में कोई भ्रम ही पनप सकेगा। किन्तु वह दिन तभी आएगा जब हम दल बन्दी के आधार पर 'नयी कविता' के मानदण्डों का निर्णय नहीं करेंगे, केवल 'रूप' की नवीनता के भ्रम-जाल में भी नहीं रहेंगे तथा कथ्य को प्रधानता देकर उसे आधुनिक जीवन के बदलते हुए रूप से जोड़कर 'नये' तत्वों से समृद्ध बनाएंगे।

: ५ :

नयी कविता और सामाजिक चेतना

"नयी कविता" का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए प्ररिप्रेक्ष्य की नवीनता, मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि, भाव बोध के नए स्तर, सौन्दर्य-बोध के नए तत्व, यथार्थ के नए धरातल, मानव-विशिष्टता और आत्म-विश्वास के आधार, आधुनिकता, आदि की बात की जाती है। उसकी ये सभी विशेषताएँ कथ्यगत हैं। शिल्प-गत विशेषताओं की गणना कराते समय नूतन बिम्ब-विधान, नयी प्रतीक-योजना, नवीन सादृश्य-संयोजन, भाषा की व्यंग्यात्मकता तथा शब्द में नए अर्थों का संक्रमण आदि का उल्लेख आवश्यक हो जाता है। निःसन्देह ये सभी प्रवृत्तियाँ संख्या में इतनी अधिक हैं कि उनके होते हुए नयी पुरानी का अन्तर करवाना कठिन नही है; प्रथम कोटि की अर्थात् कथ्यगत प्रवृत्तियाँ यदि नयी कविता की आत्मा के परिवर्तन का संकेत करती हैं, तो द्वितीय कोटि की प्रवृत्तियाँ उसके शरीर की सूचना देती हैं। यहाँ हमें काव्य-पुरुष के शरीर में घटित होने वाले परिवर्तनों पर विचार नहीं करना है, क्योंकि सामाजिक चेतना का मूल सम्बन्ध कथ्य से ही है।

नयी कविता का कथ्य नितान्त नवीन दिशाओं का उद्घाटन कर रूपाकार ग्रहण कर रहा है। अतः उसमें स्थान पाने वाली हर बात नयी प्रतीत होती है। परन्तु जहाँ 'नयी कविता' की नवीनता से सम्बन्ध है, मेरी दृष्टि में वह चमत्कृत कर देने वाली नवीनता नहीं होनी चाहिए। युग-बोध के अनुसार नये का अर्थ ग्रहण किया जाना चाहिए। आज के युग में मानव-जीवन के स्तरों और व्यवस्था-पद्धतियों में जो परिवर्तन हुआ है, उसे ही नये के अर्थ में ग्रहण करना चाहिए। या जो कुछ युगों से घटित होता आ रहा है, किन्तु जिसे वाणी से अभिव्यक्त होने का अवसर देना उचित नहीं समझा गया, उसे अभिव्यक्त करने का अवकाश मिलना भी नयापन है। नयी कविता इसी अर्थ में नयी है कि वह उस रहस्य को घोषित करने में संकोच नहीं करती, जिस रहस्य ने मानव-जीवन को प्राचीनता से बाँध रखा था। निश्चय ही इस प्रकार की अभिव्यक्ति सामाजिक चेतना पर आधारित होगी। इसका एक कारण है। प्राचीनकाल से अब तक लिखे गये साहित्य में अभिव्यक्ति का लक्ष्य "व्यक्ति" रहा है, समाज नहीं; यद्यपि व्यक्ति को समाज में रख कर परखा गया, व्यक्ति में समाज को

कभी नहीं देखा गया। आज की नयी कविता के दो रूप है। एक रूप व्यक्ति को परखता है, किन्तु समाज में रखकर नहीं उसके व्यक्ति में ही उसे रखता है। यही इस कोटि की व्यक्ति निष्ठ चेतना वाली कविता का नयापन है। किन्तु, समाज को–उसी में व्यक्ति को रखकर परखने का काम भी नयी कविता कर रही है। यहाँ परखने से तात्पर्य जीवन की विभिन्न अवस्थाओं और अनुभूतियों के चित्रण से ही है। वस्तुतः यही–द्वितीय कोटि की सामाजिक चेतना वाली कविता ही–नयी कविता है, जब कि व्यक्तिनिष्ठ चेतना वाली कविता मानव सभ्यता की बहुत पुरानी–सहस्रों वर्ष पूर्व की वैयक्तिक स्थिति पर पहुँचाना चाहती है, अतः वह तथाकथित नयी कविता है।

आज नयी कविता के सर्जकों में इसीलिए स्पष्टतः दो वर्ग बनते जा रहे हैं। एक वर्ग उन कवियों का है, जो समाज-निष्ठ चेतना को अभिव्यक्ति देते हैं और दूसरा वर्ग उनका जो सबसे दो कदम आगे आने के लिए वैयक्तिकता की आवाजें उठा कर पाठकों को चौंकाना चाहते हैं। ऐसे अर्थात द्वितीय वर्ग के नए कवियों के पास कहने के लिए वह सब कुछ नहीं है, जिसे अपना कहा जा सके। वे चमत्कार में विश्वास करते है। अतः वे रूप और शिल्प का चमत्कार तो दिखाना ही चाहते हैं, कथ्य में भी चमत्कार लाने की चेष्टा करते हैं। इस चेष्टा में वे पाश्चात्य साहित्य में पनपने वाले अस्तित्वाद आदि आन्दोलनों से ऋण लेते हैं। प्रथम वर्ग के अर्थात् सामाजिक चेतना वाले नये कवि अपने युग-जीवन की ठोस धरती पर खड़े होकर समाज की सामूहिक आशाओं आकांक्षाओं के मध्य अपने विराट् मानव को अस्तित्वादी बौने मानव की तुलना में खड़ा करते हैं। निःसन्देह उनका प्रयास नयी कविता को समृद्धतर करता जा रहा है और उसी के कारण आज तथाकथित नयी कविता का कूड़ा–कर्कट पर्याप्त मात्रा में साहित्य मंदिर में फैलने पर भी वास्तविक नयी कविता की गरिमा में ह्रास उत्पन्न नहीं हुआ है। सच पूछा जाय तो नयी कविता का आन्दोलन भी सामाजिक चेतना वाले कवियों द्वारा ही हिन्दी साहित्य में आरम्भ हुआ था और अब भी वे संख्या में कम होने पर भी नयी कविता का विकास-पथ प्रशस्त कर रहे है।

नयी कविता का यह महत्त्वपूर्ण वर्ग सामाजिक चेतना के रूप को लेकर किस प्रकार उसे समृद्ध बना रहा है, यह समझने के लिए यहाँ कुछ उदाहरण अपेक्षित हैं। परन्तु, उसके साथ यह स्पष्ट जान लेना आवश्यक है कि नयी कविता का किसी वाद से कोई सम्बन्ध नहीं है.......चाहे वह प्रगतिवाद हो, चाहे प्रयोगवाद। सामाजिक चेतना-प्रधान नयी कविता किसी वाद की संकीर्णता स्वीकार कर समाज को शोषक–शोषित या बुर्जुआ और सर्वहारा के वर्गों में नहीं बाँधती, और न वह केवल प्रयोगों के लिए लक्ष्य-हीन स्थिति के शिल्प प्रयोग ही करती है। उसका एक सुनिर्दिष्ट मार्ग

है। वह इस तथ्य को स्वीकार करती है कि व्यक्ति समाज का ही एक अखण्ड अंग है, अतः उसकी व्यक्तिगत स्थितियाँ, अनुभूतियाँ, चेतन-अवचेतन की विभिन्न आकृतियाँ– सब समाज के विभिन्न संदर्भों की ही देन है। सामाजिक चेतना को प्रधानता देने वाली नयी कविता व्यक्ति की कुण्ठाओं, निराशाओं, अनास्थाओं आदि के घरोंदे बनाना अनावश्यक और प्राचीनता के निकट मानती है। उसका मार्ग सुस्पष्ट है। वह व्यक्ति का भीतरी बाहरी पूरा चित्र उतारना चाहती है, पर उसे समाज से अलग रखकर नहीं, समाज के विराट् आकार में यथा-स्थान बिठाकर, ताकि उसके चित्र के समस्त संदर्भ भी प्रकाश में आ सकें। इस प्रकार सामाजिक चेतना वाली नयी कविता व्यक्ति की उपेक्षा नहीं करती अपितु उसे पूर्णता देती तथा उसके साथ जल के आवर्त्तों की तरह घूमने वाले समाज को भी संदर्भों के रूप में समझना चाहती है। वह यह स्पष्टतः अनुभव कराना चाहती है कि व्यक्ति स्वयं में कुछ नहीं है, अपने परिवेशों की ही देन है। अतः व्यक्ति की चेतना का भी सामाजिक संदर्भों से कट कर अपना स्वतंत्र कोई अर्थ नहीं है।

सामाजिक चेतना को नयी कविता में प्रतिष्ठित करने वाले नये कवियों का वर्ग अब भी जबकि आज आधुनिकता के नाम पर, पाश्चात्य जीवन का हिन्दी-काव्य में बड़ी तीव्र गति से अनुवाद हो रहा है, सबसे बड़ा वर्ग है और सर्वाधिक समर्थ भी। इस वर्ग के कवियों ने समाज का महत्त्व स्वीकार किया है, समाज की व्यवस्थाओं को बदलकर नए रूपाकार देने की चेष्टा की है तथा व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों को स्वस्थ बनाने के लिए व्यक्ति के चेतन व अवचेतन दोनों ही रूपों का स्वस्थ रूप में अनावरण कर उन्हें समाज से जोड़ा है। अतः सामाजिक चेतना की नई कविता बौनों का चित्रण नहीं करती, बौने में विराट् का दर्शन कराती है। उदाहरणार्थ, भवानी प्रसाद मिश्र की 'गीत फरोश' कविता लीजिए। इसमें बोलने वाले अवसाद और निराशा से भरा हुआ व्यक्ति पाठक को अपने भीतर की किसी अन्धकार पूर्ण गुहा में दम घोंटने के लिए नहीं ले जाता, बल्कि अपने माध्यम से समाज के विराट् वपु का कोढ़ चित्रित करता है। निम्नांकित पंक्तियों में इस तथ्य का साक्षात्कार कीजिए:—

यह गीत रेशमी है
यह खादी का
यह गीत पित्त का है यह बादी का
कुछ और डिज़ाइन भी हैं, ये इल्मी
ह लीजे चलती चीज़, नई फिल्मी
है गीत बेचना जैसे बिल्कुल पाप

क्या करूं मगर लाचार हार कर
गीत बेचता हूँ।
जी हां, हुजूर, मैं गीत बेचता हूँ।[1]

विजयदेव नारायणसाही की निम्नांकित पंक्तियों में उनका नया कवि सामाजिक चेतना से शक्ति पाकर ही व्यक्ति को समूह की दृष्टि से देखता है—

सच मानो प्रिय
इन आघातों से टूट टूट कर रोने में कुछ शर्म नहीं
कितने कमरों में बन्द हिमालय रोते हैं
मेजों से लगकर सो जाते कितने पठार
कितने सूरज गल रहे अँधेरों में छिपकर
हर आंसू कायरता की खीझ नहीं होता।[2]

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की निम्नांकित कविता निश्चय ही सामाजिक चेतना का एक विराट् प्रमाण पाठक के सम्मुख प्रस्तुत करती है। इस कविता का संदर्भ समाज की विभिन्न स्थितियों को छूता हुआ मानव-चेतना का विस्तार करता है तथा उसे समूह से जोड़कर जीवन की विभिन्न स्थितियों के पर्त खोलने की प्रेरणा देता है। कवि ने लिखा है:—

लिपटा रजाई में
मोटे तकिये पर धर कविता की कापी
ठंडक से अकड़ी उंगलियों से कलम पकड़
मैंने इस जीवन की गली गली नापी
हाथ कुछ लगा नहीं
कोई भी भाव कम्बख्त पर जगा नहीं
मुझसे अच्छी तुम हो
सूप उठा तुमने सब चावल फटक डाले
मुझ से अच्छा यह है
डब्बा फाड़ जिसने सब बिस्कुट गटक डाले
सूप की फटर फटर
अम्मा पापा की रट

(१) नई कविता के प्रतिमान, पृष्ठ ७६ से उद्धृत।
(२) नई कविता के प्रतिमान, पृष्ठ १२१ से उद्धृत।

मुझसे कहती है
जीवन ले कविता से हट
थैला उठाओ, जाओ
तरकारी लाओ
ऑफिस का समय हो गया है
नहाओ, खाओ,
यह सब लिखना पढ़ना कल्पना विलास है
चीख-चीख कहता यह मेरा आस-पास है
लेकिन मैं इस पर भी कलम लिए बैठा हूँ
कवि हूँ, अपनी कविताई पर ऐंठा हूँ ।[3]

सामाजिक चेतना को स्वर देने वाला नया कवि अपनी दृष्टि को व्यापक बनाकर ही व्यक्ति के अन्तर्वाह्य स्वरूपों का उद्घाटन करता है। वह व्यक्ति की विवशताओं और बन्धनों की उपेक्षा करता हो ऐसी बात नहीं। बल्कि वह उन्हें जन्म देने वाले संदर्भो के बोध से भी संश्लिष्ट करता है। कुछ पंक्तियाँ इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है :—

साज बदल रहे हैं
आदमी की आवाज बदल रही है
धरती से चांद मिलने आ रहा है
किन्तु
महनत-कश हाथों की रोटी का सवाल
उलझता जा रहा है।

× × ×

गुलाब के फूलों में
दुर्गन्ध आ रही है
और चांद की रोशनी
गीले जीवन के धुएँ में
घुटने लगी है।

× × ×

(३) नई कविता, अंक १, पृष्ठ ६० ।

क्या होगा उस सभ्यता का
और उस नयी समाज-रचना का
जिसकी हर नींव
युद्ध की खाइयों में
भरी जा रही है।[४]

दुष्यन्तकुमार ने भी निम्नांकित पंक्तियों में सामाजिक संदर्भों से अपनी दृष्टि का निर्माण किया है। वे लिखते हैं:—

वे जो पसीने से दूध से नहाए थे
वे जो सच्चाई का झण्डा उठाए थे
वे जो हमसे पहले इन राहों में आए थे
वे जो लौटे तो पराजित कहाए थे
क्या वे पराए थे ?
सच बतलाना तुमने उन्हें क्यों नहीं रोका ?[५]

सामाजिक चेतना की नयी कविता का एक अन्य सुन्दर उदाहरण है केदारनाथ अग्रवाल की "याद" शीर्षक कविता। वे लिखते हैं :—

याद ? है आवाज
पथ के पेड़ की
राहगीरों के लिये
जो गए
लौटे नहीं
इस राह से।
वह सुबह की चांदनी है
ओस से भीगी
धूप का दर्पण लिए
ओट में गूंगी खड़ी।[६]

---

(४) प्रायाम–डा० दिनेश–पृष्ठ ७७
(५) नयी कविता अंक ३, पृष्ठ ७२
(६) लहर, वर्ष ६, अंक १, पृष्ठ २,

पूर्वोक्त समस्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि नयी कविता में सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति भी पर्याप्त मात्रा में तथा अत्यन्त सशक्त भाषा में हो रही है। नयी कविता का यह सामाजिक चेतनावादी वर्ग उसके विकास का वास्तविक प्रमाण है। उसमें मनुष्य को व्यक्ति की इकाई से लेकर उसके समस्त सामाजिक विराट् तक विस्तृत करके देखा गया है। उसकी संवेदना-भूमि अत्यन्त व्यापक तथा युग-सत्य के सभी प्रमाणों का स्पर्श करती है। उसने व्यक्ति को कुण्ठा-ग्रस्त एक क्षुद्र और बौना प्राणी बनाने वाली संभावनाओं से बचाया है तथा आधुनिक जीवन के विषय संघर्षों में अपनी समस्त जीविका और निष्ठा एकत्र कर जीवित रहने की प्रेरणा दी है। निश्चय ही सामाजिक चेतना की यह नयी कविता हिन्दी साहित्य को विकास की नितान्त नूतन दिशा में ले जा रही है। हिन्दी कविता का यह एक महान् और शुभ प्रस्थान है।

: ६ :

अस्तित्ववाद और नयी कविता

(क) नयी कविता की चेतना के दो प्रवाह

हिन्दी की नयी कविता चेतना के दो प्रमुख प्रवाहों में अभिव्यक्ति पा रही है। पहला प्रवाह व्यक्ति-निष्ठ है और दूसरा समाजनिष्ठ। राष्ट्रीय चेतना आदि का इन्हीं में किसी न किसी रूप में समाहार हो जाता है।

द्वितीय विश्व-युद्ध के आरंभ के पश्चात् मानव की बौद्धिकता इन दो चेतना-प्रवाहों में विशेष रूप से विभाजित हो गयी थी। युद्ध की समाप्ति के अनन्तर विश्व में ऐसा वातावरण बना, जिसने उन दोनों प्रवाहों को आज तक निकट नहीं आने दिया है। हिरोशिमा का अणु विस्फोट, भारत, चीन आदि के राज्य-परिवर्तन, शीत-युद्ध की संशयात्मक स्थिति तथा जीवन-यापन के साधनों का विशेष व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रीकरण आदि कतिपय ऐसी ऐतिहासिक घटनाएँ हैं, जिन्होंने उन दोनों के मिलन की भावी संभावना को भी कम कर दिया है।

मानव-चेतना के इस बाल-खंडित रूप को लेकर विश्व का साहित्य आगे बढ रहा है। अतः वह एक भयंकर संशयात्मक स्थिति के मध्य अग्रसर हो रहा है। इस स्थिति के अनुकूल योरोप में कुछ नये दर्शनों का विकास हुआ है। हिन्दी की नयी कविता भी उसी दिशा में योरपीय कविता के पीछे-पीछे चलना चाहती है। अतः उसमें भी चेतना के दोनों प्रवाह स्पष्टतः दूर-दूर चलते दिखाई देते हैं। व्यक्ति-निष्ठ प्रवाह की दिशा समाज-निष्ठ प्रवाह से निरन्तर दूर होती जा रही है।

जहाँ तक व्यक्ति-निष्ठ चेतना का प्रश्न है, उसका दर्शन अस्तित्ववाद से प्रभावित है तथा समाज-निष्ठ चेतना पर मार्क्सवाद का प्रभाव अधिक है।

(ख) अस्तित्ववादी जीवन-दृष्टि

अस्तित्ववाली चेतना हिन्दी की नयी कविता में अधिक स्थान घेरती जा रही है। अतः अस्तित्ववाद के दर्शन को समझकर ही नयी कविता के साथ उसके सम्बन्ध को सम्यक् रूप से समझा जा सकता है। यों अस्तित्ववाद का आरंभ जर्मन दार्शनिक हरसेल तथा हेडेगर एवं डेनिश विचारक कीर्कगार्ड के तत्व-चिन्तन से ही हो गया था, किन्तु उसका वास्तविक प्रचारक जाँ पाल सार्त्र ही माना जाता है। प्रथम महा-

युद्ध की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप योरप में मानवीय सांस्कृतिक तत्वों के विकास एवं मानव-सभ्यता की प्रगति के प्रति अविश्वास तथा अश्रद्धा की भावनाएँ पनपने लगी थीं। फ्रायड मनोविश्लेषण-सिद्धान्त के प्रचार ने मनुष्य की अव-चेतना के भीतर निहित गंदगी का उद्‌घाटन करके उसे अत्यन्त निर्बल, इच्छा-शक्ति-हीन तथा मनो-ग्रन्थियों द्वारा परिचालित जीव सिद्ध कर दिया था। अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक एवं राज-नैतिक क्षेत्रों की उथल-पुथल तथा द्वितीय महायुद्ध की भूमिका ने सांस्कृतिक मानव के हताश-हृदय में आत्म-विद्रोह के भाव जागृत कर दिये थे। इन सभी कारणों से साहित्य और संस्कृति में ह्रासोन्मुखता के तत्वों को पनपने का अवसर मिला। अस्तित्ववाद के मूल में ये ही तत्व वर्तमान् हैं। सार्त्र (१९०५ ई०) ने इन्हीं तत्वों पर फ्रांसीसी कला का मुलम्मा चढ़ाकर द्वितीय महायुद्ध से त्रस्त विश्व को चमत्कृत करने की चेष्टा की। सौभाग्यवश योरप तो शीघ्र सार्त्र की मान्यताओं की भयंकर विडम्बनाओं को समझ गया, किन्तु भारतीय जनता के दुर्भाग्य से वह अनास्थावादी जीवन-दर्शन हिन्दी के नये कवियों और लेखकों के लिये अनुकरणीय हो गया। राष्ट्रीय महासभा तथा उनके नेताओं और समाजवादी विचारकों के प्रयत्नों से जो सामाजिक चेतना भारत को मिली थी एवं जिससे हिन्दी कविता का भाव-जागृत ही समृद्ध नहीं हुआ था, शिल्प और रूप भी गौरवान्वित हुए थे, उसे अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन ने समाप्त कर देने का भयंकर षड़यन्त्र रचा। वह षड़यन्त्र अभी तक समाप्त नहीं हुआ है। फलतः अब भी अधिकांश नयी कविता व्यक्ति-निष्ठ चिन्तन पर आधारित होकर भारतीय जन-जीवन के आन्तरिक स्वरूप को अपनी अभिव्यक्ति का विषय बनाकर, योरपीय जीवन का आवरण उस पर डालने की चेष्टा कर रही है। काफी-हाउस और रेस्ट्राँ जैसे स्थानों से वह आवरण अपना रूप-विस्तार करता है और भारतीय जीवन की समस्त यथार्थ स्थितियों को ढक कर अस्वाभाविक बनाता जा रहा है। न तो वह आवरण भारतीय जीवन की मूल भावनाओं को स्वीकार करता है और न विकास-शील चेतनाओं को ही ग्रहण करता है।

सार्त्र ने अपने साहित्य के माध्यम से मानव-जीवन को निरर्थक मानने वाली विचार-धारा दी है। वह तर्क को व्यर्थ और प्रभाव-हीन मानकर त्यागता है। ईश्वर में उसे विश्वास नहीं है। ईश्वर के प्रति अविश्वास की बात कई भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में भी स्वीकृत है, किन्तु सार्त्र के समान वे सम्प्रदाय समाज का तिरस्कार नहीं करते। सार्त्र ने मानव-जीवन को अवश, निरूपाय तथा निरर्थक माना है, भले ही वह उसे इस स्वीकृति के द्वारा कोई नया अर्थ देना चाहता हो। उसने समाज का तिरस्कार करके व्यक्ति को अपने चिन्तन का केन्द्र-बिन्दु बनाया है। दार्शनिक दृष्टि से उसकी यह मान्यता कितनी ही तर्क-सम्मत क्यों न हो, व्यावहारिक जीवन की दृष्टि से उसका विशेष महत्व नहीं है।

सार्त्र मानव-जीवन की अवशता को नष्ट करने के लिये मानवीय स्वातंत्र्य का समर्थन करता है। वह अस्तित्व को स्थिति तत्व से पूर्व मानता है। उसके अनुसार जब मनुष्य कार्य करता है, तभी उसके (मनुष्य के) अस्तित्व का प्रमाण मिलता है। अतः अस्तित्ववाद में मनुष्य का चिन्तन उसके जीवन के सन्दर्भ से अलग नहीं किया जा सकता।

अस्तित्ववादी दर्शन की सबसे बड़ी दुर्बलता यह है कि वह मृत्यु के संदर्भ में जीवन पर विचार करता है। उसके अनुसार मृत्यु जन्म के साथ अनिवार्यतः जुड़ी हुई है, अतः जीव अपने लिए कोई भी चुनाव करने या वर्णन करने को स्वच्छन्द नहीं है। कीर्कगार्ड एवं यास्पर्स ने अपने अस्तित्ववादी चिन्तन से मानव को इतना असहाय नहीं बनाया था, जितना सार्त्र ने बना दिया है; क्योंकि वे ईश्वर विश्वास पर कुठाराघात नहीं कर सके थे।

सार्त्र के अस्तित्ववादी दर्शन ने जहाँ ईश्वर से मानव को अलग किया है। वहाँ उसे समस्त परम्परागत चिन्तन और मूल्यों से भी दूर करने की चेष्टा की है। वह नए मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए आतुर रहा है। अवसाद, अनास्था और निराशा से प्रेरित होकर सार्त्र का अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन कभी स्थिर नहीं रह सका। सार्त्र स्वयं ज्यों-ज्यों सोचता गया है, त्यों-त्यों वह अपने विचार बदलता गया है। अत' कहीं-कहीं सार्त्र प्रगतिवादी चिन्तन के निकट प्रतीत होता है, किन्तु व्यक्ति निष्ठा चेतना से आक्रान्त होने के कारण वह वास्तव में प्रगतिवाद से कोसों दूर है। भले ही मानव-मुक्ति में उसे आस्था हो, किन्तु मानव-जीवन के मूल्यों एवं समाज में अनास्था रखने के कारण वह मानव-जीवन के परिवर्तित मूल्यों को खोज सकने की दृष्टि खो बैठा है।

आत्म-चेतनात्मक स्वतंत्रता का प्रचारक सार्त्र यह मत स्थापित करता है कि किसी परिस्थिति का वास्तविक ज्ञान तभी संभव है, जबकि व्यक्ति की चेतना उस परिस्थिति से पृथक् होकर स्वयं को उससे पूर्णतः विच्छिन्न करके उसका अनुभव करे। मनुष्य के इस चेतनात्मक स्वातंत्र्य से शून्य की उत्पत्ति होती है। स्वयं सार्त्र ने यह स्वीकार किया है कि व्यक्ति का अस्तित्व ही शून्य-तत्व की सृष्टि करता है। उसने जिस चेतना की स्वतन्त्रता पर बल दिया है, वह भौतिक तथा यथार्थ परिस्थितियों का निम्न निराकरण करती हुई मात्र स्वानुभूति में लय होती है। इसलिए सार्त्र की दृष्टि में जीवन अर्थ-हीन वासना का पर्याय है। अतः एक तीसरा तथ्य "घृणा", जिसे सार्त्र ने "उबकाई" माना है, सामने आता है। यों स्वतंत्र-चेतना, शून्यता और घृणा (या उबकाई) के तत्वों पर अस्तित्ववाद का वह वायवी दर्शन

खड़ा है, जिसकी प्रधान देन है—अनास्था, अविश्वास, कुण्ठा, निराशा और आत्म-ग्लानि ।

पतनशील प्रवृत्तियों के आधार तत्वों का निर्माण करने वाले अस्तित्ववादी दर्शन ने नग्न वासना को स्वीकार कर यौन-भावना के वीभत्स प्रदर्शन को कृतियों में स्थान दिलाया है तथा मानसिक अवस्था के चरम रूप की अभिव्यक्ति की है । फ्रायड आदि के मनोवैज्ञानिक तथ्यों की प्रतिक्रिया के रूप में इस दर्शन ने उन यौन-प्रवृत्तियों को अधिकाधिक गले लगाने की चेष्टा प्रदर्शित की है, ताकि कोई फ्रायड-वादी किसी भी अस्तित्ववादी व्यक्ति को यौन-क्रान्तियों से उत्पन्न मनोग्रन्थियों का शिकार न बतलादे (सार्त्र यह प्रमाणित करना चाहता है कि समस्त मानव-जीवन यौन-क्रियाओं और प्रवृत्तियों के भीतर ही समाहित होने के कारण अर्थ-हीन है) । अतः अस्तित्ववादी चेतना जीवन के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण अपना कर अस्वस्थ जीवन-मूल्यों का समर्थन करती है । भारतीय दर्शन में भी कुछ ऐसे सम्प्रदाय रहे हैं, जो जीवन की ही नहीं, जगत् की भी नश्वरता बतलाकर उनकी निरर्थकता घोषित करते हैं, किन्तु वे आस्थावादी स्वस्थ दृष्टि देने के लिये ही ऐसा करते हैं, जिसके पीछे सामूहिकता की चेतना वर्तमान है । परन्तु अस्तित्ववादी दर्शन किसी भी स्थिति में स्थिरता का कोई बिन्दु स्वीकार नहीं करता है । इसीलिए उसकी दृष्टि में जीवन एक संकट है, जिससे उत्पन्न होने वाली "घृणा" को व्यक्ति आत्म-चेतना के विद्रोहात्मक स्वरूप से ठुकराकर ही कोई मार्ग अपना सकता है । मार्ग प्राप्ति का यह उपचार व्यक्ति को घोर अहंवादी बनाता है । यही कारण है कि अस्तित्ववादी चेतना घोर वैयक्तिक तथा अहं-ग्रस्त है । सामाजिक चेतना से विच्छिन्न होकर अस्तित्ववादी व्यक्ति चेतना के विराट वृत्त में घबराया हुआ घूमता है ।

(ग) नयी कविता में अस्तित्ववादी प्रवृत्तियाँ :

ऊपर हमने अस्तित्ववाद की जिन प्रवृत्तियों पर संक्षेप में विचार किया है, उनसे हिन्दी की नयी कविता पर्याप्त मात्रा में प्रभावित है । उसमें मानव का सामाजिक रूप तिरस्कृत होता चला जा रहा है । व्यक्ति के सामाजिक जीवन-सम्बन्धों और सामाजिक चिन्तनों को अयथार्थ तथा अस्वाभाविक बताकर तिलाञ्जलि दी जा रही है । अब तक अस्तित्ववादी जो मुख्य प्रवृत्तियाँ नयी कविता में अवतीर्ण हुई हैं, वे इस प्रकार हैं :

(१) जीवन की निरर्थकता और व्यक्ति की अवशता :

व्यक्ति-निष्ठ चेतना का नया कवि जीवन के प्रति आस्था खो बैठा है । वह भयंकर अवशता का अनुभव करता हुआ जीवन के मार्ग पर अभिशाप की भाँति निरर्थक यात्रा कर रहा है । प्रयागनारायण त्रिपाठी कहते हैं :

यह यात्रा कब आरंभ हुई थी ?

क्यों ?

किस भय से ?

किन मोड़ों से होकर इतिहास तक आया हूँ ?

किन्तु काल की शत-सहस्र परतों के पीछे

काली काली चट्टानों के पार झाँकने के प्रयत्न सब व्यर्थ हुए हैं।

यात्रा का कुछ स्पष्ट अर्थ

चेतना पटल पर नहीं सँवरता

लगता है : धारा में बहते बहते सहसा

नाव भँवर में उलझ गई है

लगता है : हर नया मार्ग गंतव्य-हीन

आगे-आगे-आगे प्रतिक्षण बढ़ता जाता है

जिस पर बस चलते जाने का निष्कारण अभिशाप मिला है

मुझको

अन्त-हीन यात्री को ? [१]

(२) क्षण का महत्व और विराट काल की अस्वीकृति :

अतीत, वर्तमान् और भविष्य की परम्परा के प्रति अश्रद्धालु बनकर नया कवि काल के, अखण्ड प्रवाह में विश्वास नहीं करता, इसलिए वह किसी एक क्षण से अपना अस्तित्व सिद्ध करना चाहता है। नयी कविताओं में क्षण को महत्व देने वाले ऐसे अनेक उदाहरण अनायास मिल जाते हैं। कीर्ति चौधरी की एक कविता है :

मैं प्रस्तुत हूँ

इन कई दिनों के चिन्तन औ, संघर्ष के बाद

यह क्षण अब आ पाया है

उसमें बँधकर मैं प्रस्तुत हूँ

तुमसे सबकुछ कह देने को।

× × ×

---

(१) नयी कविता अंक ३, पृष्ठ ८३—८४

में प्रस्तुत हूँ
यह क्षण भी कहीं न खो जाए।
अभिमान नाम का पद का भी तो होता है
यह कछुए सी मेरी आत्मा
पंजे फैला
असली स्वरूप जो तुम्हें दिखाने को
उत्सुक हो बैठी है
क्या जाने अगले क्षण की ही आहट को पा
सब कुछ अपने में फिर समेट ले झट अंदर [2]

(३) शून्यता की अनुभूति :

नया कवि अस्तित्ववाद से प्रभावित होकर जीवन में शून्यता की अनुभूति प्राप्त कर रहा है। ज्यों-ज्यों वह व्यक्ति की स्वतंत्र चेतना का समर्थक बनता जा रहा है, त्यों-त्यों वह भौतिक एवं यथार्थ परिस्थितियों का एक दम निराकरण करके शून्य को महत्व दे रहा है। "तिलमिलाती संध्या" कविता की कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत है :

कभी पूछना अँधेरे से
पहलू से लगी हो परछाईं जब
आवरण से भिन्न भी कोई नग्नता है
या यह विराट् आडम्बर
नग्नता छिपाने को नहीं पर घेरने शून्य को। [3]

(४) निराशा और अनास्था का बोध :

नयी कविता में अस्तित्वाद के प्रभाव से निराशा और अनास्था का अत्यधिक विस्तार हुआ है। यथा :

प्रकाश के रंगीन झरने
जो असंभव ऊँचाइयों से गिर रहे हैं
पत्थर को गुढ़गुड़ाकर
एक तरल संगीत जगाकर

---

३. नयी कविता अंक ३, पृष्ठ ६३-६४ कवि अनाम

कहीं दूर चले जाएँगे

और तब मैं बन्द आंखों के अपार अन्धकार में

भूलते हुए अपने ही चित्रों को नोंचकर कहूँगा

कि सब कुछ

शायद मेरे उन्माद की छाया थी,

तुम नहीं [४]

निराशा-जन्य अवसाद से ग्रस्त मन का एक चित्र इन पंक्तियों में प्रस्तुत हुआ है :

नदी है, नाव है

किन्तु यहां कहीं भी

रूकता नहीं पांव है।

× × ×

भँवर के बाद भँवर

आते हैं

और चले जाते हैं

किन्तु भीतर क्या है

ऊपर नहीं लाते हैं

× × ×

उस पार कोई हो

या न हो

पर आज

गहरी उदासी में डूबा

मेरा ही मन

भीतर ही भीतर मुझे छल रहा है [५]

निराशा की अभिव्यक्ति इस सीमा तक पहुँची है :

---

४. नयी कविता अङ्क ३, पृष्ठ४३ कवि—कुँवरनारायण

५. आयाम, डा० दिनेश, पृष्ठ १२

बाहर ये राहें हैं
किन्तु एक बिन्दु पर
सब में
विराम है

× × ×

पर अब
भीतर के हर मोड़ पर
उनका पहरा है
ये राहें जहाँ पहुँचकर
बन गई हैं
ऊँची तम की दीवार [६]

निराशा का अस्तित्ववादी चिन्तन नए कवि को इस चित्रण तक ले पहुँचा है :

ये हाथ
जिनमें रहते थे
फूल
अब इनमें श्वेत काँटें हैं...........
जैसे बबूल !
माथे की चिंता की रेखाएँ
जो कभी थी
पानी की लकीर
बनती जा रही हैं
पत्थर की लकीर । [७]

(५) घृणा या उबकाई की अभिव्यक्ति :

सार्त्र ने अपने अस्तित्ववादी दर्शन में जिस उबकाई (लोनोसे) या घृणा को जीवन की मूल सत्ता का महत्वपूर्ण अंग स्वीकार किया है, उसे नये हिन्दी कवियों ने पर्याप्त आत्मीयता से ग्रहण किया है । धर्मवीर भारती की कुछ पंक्तियाँ देखिए :

---

६. आयाम, डा० दिनेश पृष्ठ १४

७. नयी कविता अंक १, कवि-श्याममोहन श्रीवास्तव, पृष्ठ ५१-५२

थाहा या अनस्तित्व का सागर

पतनोमुख होकर

दिग्भ्रम

भटकन

सीलन

कीचड़ काई

पाप उबकाई के

स्तर छुए थे............? [८]

(६) ईश्वर में अविश्वास और "अहं" का विस्तार :

नयी कविता में अस्तित्ववाद के प्रभाव से "ईश्वर" का अस्तित्व अस्वीकार किया जा रहा है। कवि अपनी नई दृष्टि और विवेक पर गर्व करता हुआ झूठे "अहं" में फूल रहा है। निश्चय ही प्रगतिवादी दृष्टि को साथ लेकर कहीं-कहीं नये कवि ने अपने अस्तित्ववादी अविश्वास को अनजाने समाज-हित में नियोजित कर दिया है, किन्तु वह मूलतः ईश्वर की अस्वीकृति में अपने "अहं" के प्रति ही अधिक सजग है। विजयदेवनारायण साही की निम्नांकित कविता इस सन्दर्भ में प्रस्तुत है ?

नबी तुम्हारी पोली छाती में यह क्या है ?

बंजर मिट्टी

पंगु तरलता

झूठी ज्वाला

रुद्ध हवाएँ

× × ×

प्रथम वार जब तुमने झूठा ईश्वर देखा

मानव के घायल मस्तक की साक्षी देकर मैंने अस्वीकार किया था।

× × ×

नबी तुम्हारी कुण्ठाओं से निर्मित प्रभुता

केवल आत्मा की तेजाबी आभा थी, जो

जीती नहीं कलंकित होकर

---

८. नयी कविता अङ्क ३, पृष्ठ ५७

मुर्दा परतों पर कुम्हलाया जहर छोड़कर
कुछ दिन बाद उतर जाती है। [६]

(७) यौन भावना का नग्न रूप :

अस्तित्ववाद के प्रभाव से यौन-भावना अपनी समग्र नग्नता के साथ नयी कविता में प्रस्तुत होना चाहती है। फ्रॉयड़ आदि मनोविश्लेषणवादि को नया कवि मानो नौती देता है कि अब हमारी समस्त प्रणय कुण्ठा अपनी परिधि तोड़कर अभिव्यक्त होने को प्रस्तुत है। अज्ञेय से लेकर पन्त तक ने नग्न यौन-चित्रण प्रस्तुत किये हैं। राष्ट्रीय साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत नयी कविता के प्रतिनिधि संकलन 'कला और बूढ़ा चांद" (पंत) में इस प्रकार की नयी कविताएँ मिलती हैं। पत्र-पत्रिकाओं में तो ऐसी कविताओं के उदाहरण आये दिन मिल जाते हैं। अतः नग्न यौन-चित्रण के प्रमाण देना यहाँ अभीष्ट नहीं हैं।

(घ) अस्तित्ववाद का नयी कविता पर शुभ प्रभाव :

अब तक हमने नयी कविता पर अस्तित्ववाद के प्रभाव का एक पक्ष ही प्रस्तुत किया है, किन्तु उसका दूसरा शुभ पक्ष भी है। सामाजिक चेतना से प्रभावित कविता ने समूह को इतना अधिक महत्व दिया था कि व्यक्ति की उपेक्षा हो गई थी। अस्तित्ववादी दर्शन ने उस उपेक्षित व्यक्ति को महत्व देकर समाज की परिधि में उसे स्वतन्त्र इकाई के रूप में स्थापित किया तथा उसकी व्यक्तिगत स्थितियों को चित्रित कर उसके अस्तित्व का प्रकाशन किया। अतः इस दृष्टि से लिखी गई नयी कविताएँ एक शुभ प्रभाव लेकर भी चली हैं। उनमें व्यक्ति की स्थिति को नए आयामों में प्रस्तुत किया गया है तथा समाज में खोए हुए उसके व्यक्तित्व को नए आकारों में उभारा गया है।

(ङ) उपसंहार :

पूर्वोक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हिन्दी की नयी कविता को अस्तित्ववाद ने जिस सीमा तक प्रभावित किया है, उस सीमा तक वह भारतीय जीवन की भूमि से कट कर योरपीय वातावरण के प्रभावों को स्वीकार करने क लिये विवश हुई है। अस्तित्ववाद ने उसे व्यक्ति के निकट पहुँचाकर कितना ही शुभ कार्य किया हो, किन्तु वह उसे वैयक्तिक सामर्थ्य और जिजीविषा का अमृत अधिक नहीं पिला सका है। आज हिन्दी कविता में जहाँ कहीं भी निराशा, अनास्था, कुण्ठा, अविश्वास, घृणा आदि का चित्रण मिलता है, उसके लिए अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन बहुत कुछ उत्तरदायी है।

---

६. नयी कविता के प्रतिमान, पृष्ठ १०१-२ से उद्धृत

: ७ :

विश्व-शान्ति की समस्या के संदर्भ में युद्ध-परक साहित्य*

'विश्व-शांति की समस्या के संदर्भ में युद्ध-परक साहित्य' विषय तीन शब्द-बिन्दुओं से सीमित है। ये बिन्दु हैं—शांति, युद्ध और साहित्य। शांति का अर्थ प्रस्तुत संदर्भ में विश्व शब्द से सम्बद्ध है। उसको अध्यात्म, समाज और राज की तीन भिन्न दृष्टियों से समझा जा सकता है, परन्तु विषय की सीमा का ध्यान रखते हुए प्रथम तथा द्वितीय दृष्टियों को छोड़ देना आवश्यक है। राजनैतिक स्तर पर विभिन्न राष्ट्रों या देशों में परस्पर जो संघर्ष होते हैं, उनकी समाप्ति की स्थिति ही प्रस्तुत संदर्भ में शान्ति की अर्थ सीमा में स्वीकार की जा सकती है। युद्ध की अर्थ-सीमा भी आक्रमण और उसके विरोध तक विस्तृत न मान कर, केवल विरोध की स्थिति तक मानी जानी चाहिए, क्योंकि आक्रमणकारी के पशु-बल का यदि गतिरोध न किया जाय, तो युद्ध की स्थिति उत्पन्न नहीं होती। अतः तात्विक दृष्टि से युद्ध आक्रामक भावना का प्रतीक नहीं, अपितु आक्रमण-प्रतिरोध की आकांक्षा की अभिव्यक्ति है। इस दृष्टि से इतिहास के पृष्ठ पर हम जिस घटना को 'युद्ध' कहते हैं, वह साहित्य की भाव-भूमि पर शौर्य, शक्ति, तेज और जीवन के ओज का बोध है।

अब प्रश्न यह उठता है कि शांति और युद्ध स्वयं में कोई साध्य है या इनका कोई अन्य साध्य है? इसी प्रश्न से यह प्रश्न भी जुड़ जाता है कि शान्ति और युद्ध की अभिव्यक्ति साहित्य में क्यों की जाती है? क्या शान्ति और युद्ध का अभिव्यंजन ही साहित्य का साध्य है? मैं समझता हूँ, इन प्रश्नों के उत्तर में शान्ति, युद्ध और साहित्य से बाहर किसी अन्य तत्व की खोज करनी होगी। शान्ति और युद्ध साहित्य के साध्य नहीं हैं। शान्ति और युद्ध स्वयं में भी कोई साध्य नहीं है। हम जिसके लिए साहित्य लिखते हैं, वह है जीवन। हम शान्ति और युद्ध की अभिव्यक्त भी साहित्य में जीवन की प्रतिष्ठा के लिए ही करते हैं। शान्ति प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी यदि

---

* राजस्थान साहित्य अकादमी द्वारा १९६३ में आयोजित वार्षिक सेमिनार के अवसर पर प्रथम विचार गोष्ठी के अध्यक्ष पद से व्यक्त किए गए विचार।

'जीवन' तत्व की उपलब्धि नहीं हुई, तो उस शांति का कोई महत्व नहीं। इसी प्रकार युद्ध लड़ लेने के पश्चात् भी यदि 'जीवन' तत्व की स्थापना नहीं हुई, तो युद्ध का अर्थ सिद्ध नहीं होता। साहित्य जब शान्ति और युद्ध की अभिव्यक्ति करता है, तब उसके सामने जीवन का कोई मूल्य अवश्य होता है।

अतः अन्ततोगत्वा साहित्यकार के दायित्व की बात जीवन के मूल्य पर आ टिकती है। हमें 'विश्व-शांति की समस्या के संदर्भ में युद्ध-परक साहित्य' विषय पर विचार करते समय इस तथ्य को विस्मृत नहीं करना चाहिए।

मैं यह बात और स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि युद्ध को केवल विनाशात्मक रूप में न समझा जाय। उसका यह रूप तो इतिहास की घटना का विषय है। साहित्य में युद्ध-परक अभिव्यक्ति तीन प्रकार की हो सकती है—युद्ध अर्थात् शक्ति-बोध की प्रेरणा देने वाली, युद्ध के भयंकर एवं वीभत्स चित्र प्रस्तुत करने वाली तथा युद्ध के विनाशात्मक तत्वों का विरोध करने वाली। इन तीनों प्रकार की अभिव्यक्तियों का साहित्य अन्ततोगत्वा उस शांति की स्थापना एवं रक्षा की प्रेरणा देता है, जो शांति जगत् में जीवन के मूल्य की स्थापना में योग दे सकती है।

पूर्वोक्त दृष्टि से हमें भारतीय साहित्य को समझने की आवश्यकता है, क्योंकि हमारे विषय की मूल ध्वनि यही है कि विश्व-शांति के लिए प्रयत्नशील साहित्यकार ही जब आपत-संकट में युद्ध-परक साहित्य लिखता है, तब उसके सृजन का औचित्य क्या होता है? मैं समझता हूँ, वह साहित्यकार युद्ध-परक साहित्य सृजन करके भी अपने मूल पथ 'शांति' से भ्रष्ट नहीं होता। वह जीवन के मूल्य को स्थापित करने के लिए ही शांति या युद्ध में से जिसकी आवश्यकता समझता है, उसका प्रयोग करता है। अतः साहित्य-सृजन के क्षेत्र में शान्ति और युद्ध की अभिव्यक्तियों में परस्पर विरोध नहीं है। जो साहित्यकार युद्ध की भूमिका को साहित्य में उपेक्षित रखना चाहता है, वह किसी सीमा तक जीवन-मूल्यों की स्थापना से विमुख होता है। निःसन्देह वह मानव-जाति की मूल प्रवृत्तियों को उपेक्षा करता है तथा यह मान लेता है कि संसार इतना संस्कृत हो गया है कि उसमें आक्रामक स्थिति कभी आ ही नहीं सकती। मैं समझता हूँ, जब-जब साहित्यकार से यह भूल होती है, तभी 'आक्रामक स्थिति' भी उपस्थित होती है एवं साहित्य से उपेक्षित युद्ध इतिहास के पृष्ठों पर अवतरित हो जाता है।

भारतीय साहित्य में शान्ति और युद्ध की पूर्वोक्त दोनों दृष्टियों को स्थान मिला है। हमारा प्राचीन साहित्यकार जीवन-मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए शान्ति-परक भावनाओं का जिस तत्परता से विस्तृत चित्रण करता रहा है, उसी तत्परता से उसने

युद्ध-भावना को भी स्वीकार किया है। वेदों में शान्ति की कामना एक विराट् परिवेश में चित्रित हुई है और उसी के साथ युद्ध-परक भावों को भी समान आदर से स्थान मिला है। उसमें इन्द्र, वरुण, विष्णु, सविता, आदि एक ओर तो शिव-भूमिका पर चित्रित हैं और दूसरी ओर रुद्र-भूमिका भी उन्हें प्रदान की गई है। ऋषि शान्ति की कामना करता है, ताकि जीवन के मूल्य को वह प्राप्त कर सके, किन्तु साथ ही वह रुद्र को भी पिनाक धारण करने के लिए आमंत्रित करता है, ताकि उस प्राप्त जीवन-मूल्य की रक्षा हो सके। आरण्यक और उपनिषद् का ज्ञान और चिन्तन भी शान्ति और युद्ध-परक भावनाओं से जीवन-तत्व को ही पाना चाहता है। वही चिन्तन सूत्र पुराणों और महाकाव्यों की कथाओं में होता हुआ समस्त उत्तरकालीन भारतीय साहित्य में समा गया है तथा भगवान् कृष्ण की गीता में भी उसी की अभिव्यक्ति हुई है।

हिन्दी का साहित्य उपर्युक्त परम्परा की धरोहर को सहर्ष स्वीकार करता रहा है।

पृथ्वीराजरासो, रामचरितमानस, शिवाबावनी, साकेत, पार्वती, सारथी, परशुराम की प्रतीक्षा और 'हिमप्रिया' काव्य इसी दृष्टि से लिखे गए हैं। गोरी ने पृथ्वीराज को कितनी बार बंदी बनाकर छोड़ा, इसका उल्लेख इतिहास में हो या न हो, पर चंद ने युद्ध को प्रधानता देकर भी गोरी के प्रति अमानवता नहीं दिखाई। तुलसी के राम मानवता की रक्षा के लिए ही लड़ते हैं। भूषण का शिवाजी युद्ध करता है, किन्तु मानवता के नैतिक तत्व की उपेक्षा नहीं करता। मैथिलीशरण के राम मानवता की प्रतिष्ठा के लिए योद्धा बनते हैं। दिनकर ने भी 'परशुराम की प्रतीक्षा' में मानवतावादी मूल्यों की रक्षा के लिए युद्ध की उत्तेजना दी है। मेरे सारथी (महाकाव्य) एवं हिमप्रिया (खण्डकाव्य) में भी मानवतावादी मूल्यों के विनाश को रोकने के लिए ही युद्ध की भूमिका प्रस्तुत हुई है। सारथी में त्रिपुर-कल्पना के माध्यम से इसी तथ्य को प्रस्तुत किया गया है कि जब-जब विश्व-शांति पर संकट आने से मानवता का विनाश होने लगता है, तब-तब जीवन का शक्ति-बोध युद्धोन्मुख होता है और अन्त में शिवम् की स्थापना होती है। काव्यों के अतिरिक्त कहानी, उपन्यास, नाटक, आदि में भी इस दृष्टिकोण की कमी नहीं है। उदाहरणार्थ-सोमनाथ, विजयपर्व, पवनजय, मृत्युंजय, धारेश्वर भोज आदि नाटकों में शान्ति पर संकट आने से जब मानवता का ह्रास होता दिखाई देता है, तब युद्ध का शंखनाद आवश्यक हो जाता है और अन्त में 'युद्ध का परिणाम' शान्ति की स्थापना के माध्यम से मानवता का रक्षण होता है। अतः मैं समझता हूँ कि युद्ध-परक साहित्य विश्वशान्ति की समस्या का विरोधी नहीं है, क्योंकि वह विश्व-शान्ति के महान् लक्ष्य मानवता की प्रतिष्ठा का ही एक साधन है।

मैं इस बात को नहीं मानता कि युद्ध जीवन में करुणा की स्थिति लाता है। मेरी दृष्टि में युद्ध से करुणा का अन्त होता है तथा आनन्द की स्थापना होती है। युद्ध काल की हिंसा और करुणा का उद्देश्य ऐसे समाज की स्थापना ही है, जिसमें अहिंसा और आनन्द प्रतिष्ठित हों। हमारा वर्तमान हिन्दी-साहित्य इसका विरोधी नहीं है। यह बात दूसरी है कि ज्यों-ज्यों मानव-जाति जीवन-मूल्यों की स्थापना के लिए शान्ति और युद्ध नामक दो साधनों में से शान्ति की महत्ता अधिक मात्रा में समझी जाएगी, त्यों-त्यों युद्ध की आवश्यकता कम होती जाएगी। अतः साहित्यकार का दायित्व है कि वह मानवतावादी जीवन-मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए शान्ति और युद्ध दोनों साधनों को ध्यान में रखकर साहित्य लिखे। युद्ध परक साहित्य की रचना को वह अपने दायित्व की सीमा से बाहर न समझे तथा यह ध्यान में रखे कि शान्ति-परक साहित्य से जहाँ मानवता की रक्षा संभव हो वहाँ युद्ध-परक साहित्य के सृजन की प्रधानता आवश्यक न समझे। शान्ति और युद्ध में से कोई भी हमारा साध्य नही है, साध्य है जीवन-तत्त्व। साहित्यकार को विश्व में इसी साध्य की प्रतिष्ठा के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए।

———

: ८ :

शैव परम्परा में एकता के सूत्र

'शिव' मानव की धर्म-बुद्धि का सबसे महान् आविष्कार है। जीवन की सफलता और समाज का विकास आस्था और विश्वास की पवित्रता पर निर्भर है। शिव उस पवित्रता के प्रतीक हैं। वे अपने अभिधेय अर्थ में मानव मात्र के लिये शुभ एवं कल्याणकारी हैं तथा आध्यात्मिक अर्थ में मानव मात्र को विभिन्न विभेदों से मुक्त कर पूर्ण एकता और चरम आनन्द की अनुभूति कराने वाले हैं।

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की सभ्यता के समय से अब तक समस्त भारत में शिव की पूजा होती आ रही है। इतिहासकारों का मत है कि मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की सभ्यता अनार्य या द्रविड़ सभ्यता थी, आर्य सभ्यता का युग उसके पश्चात् आरम्भ हुआ। दोनों सभ्यताओं में कुछ समय तक भयंकर संघर्ष होता रहा। बाद में आर्य सभ्यता की विजय हुई। विजित अनार्य जाति पद-दलित होने पर भी शान्त होकर नहीं बैठ सकती थी, किन्तु शिव की उपासना ने उसे सहन-शक्ति दी और आर्य जाति के मानस पर अपना अधिकार कर उसे विनम्र बनाया। इस प्रकार भारतीय इतिहास के प्रारम्भिक अध्यायों में ही 'शिव' की उपासना ने एकता का अभिलेख अंकित करने का श्रेय प्राप्त किया। ऋग्वेद जो आर्य जाति की मानस-साधना का आदि ग्रन्थ है, इस बात का प्रमाण है कि उस काल में धीरे-धीरे अंकुरित होते हुए विभिन्न देवों के अस्तित्वों को शिव ने ही एकता के सूत्र में आबद्ध किया। अनार्य जाति के लोक-धर्म से शिव का अस्तित्व बहुत सहज ढंग से ऊपर उठा और आर्य जाति के तत्व दर्शन में व्याप्त हो गया। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में ही कई बार इस बात की घोषणा की गई है कि सर्वत्र व्याप्त वह परम तत्व एक ही है और वही विभिन्न देवों के रूप में अभिव्यक्त होता है। पञ्चम मण्डल में यह बताया गया है कि वह परम तत्व चरम मंगल या कल्याण का प्रतीक होने के कारण 'शिव' है। उसकी शिवता को जीवन की आस्था और समाज का विश्वास बनाकर एक मंत्र में कहा गया है :—

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते संभ्रान्तरो व वृधु : सौभगाय ।
युवा पिता स्व पा रुद्र एषां सुदुघा पृश्नि : सुदिना मरुदभ्य :

"अर्थात् "हम सब ज्येष्ठ, कनिष्ठ, लघु, उच्च के भेद से रहित हैं। हम सब मिलकर सौभाग्य के लिये उन्नतिशील हों। कल्याणकारी श्रेष्ठकर्मा रुद्र परमेश्वर हम सबके पिता हैं तथा सबको सुख देने वाली सुन्दर दूध पिलाकर पोषण करने वाली प्रकृति हम सबकी माँ है।"

इस मंत्र में अनार्यों के रुद्रदेव को 'शिव' रूप देकर समाज की एकता और अखण्डता की कामना एवं मिलकर विकास करने की भावना व्यक्त की गई है। आधुनिक काल की तरह हजारों वर्ष पूर्व ऋग्वेद काल में भी समाज ज्येष्ठ-कनिष्ठ भेद-भाव से ग्रसित था। ऋषि ने शिव के माध्यम से उस भेद-भाव को दूर करने का मार्ग-दर्शन पूर्वोक्त पंक्तियों में किया है। अन्यत्र विभिन्न सूक्तों में अनेक देवताओं की स्तुति की गई है, किन्तु उन सबको शिव के ही विभिन्न रूप बताकर सबकी एकता प्रतिपादित कर दी गई है। इस प्रकार भारतीय इतिहास के आदिकाल में ही शिव ने अनार्य और आर्य जातियों के धार्मिक विश्वासों में एकता स्थापित कर दोनों को एक दूसरे के निकट लाने का सहज एवं सफल प्रयास किया तथा सामाजिक जीवन को छोटे-बड़े के भेद-भाव से बचाकर पवित्र बनाया।

आर्य जाति का चिन्तन जब उपनिषदों तक पहुँचा, तो अनार्य लोक-धर्म से आए हुए 'शिव' दर्शन के चरम साध्य बन गये। कई उपनिषदों में इन्हें आध्यात्मिक साधना का शीर्षफल बताया गया है। ब्राह्मण-काल में आर्यों का लोक-धर्म जब यज्ञ और पशुबलि का समर्थक बना, तो उपनिषदों का शिव उस साधना की क्रूरता का शमन करने में सहायक सिद्ध हुआ। उपनिषद्कार ने अत्यन्त उच्च स्वर में परमेश्वर के कल्याणकारी अर्थात् शिव रूप की घोषणा की और बाहरी यज्ञ तथा पशु बलि को आध्यात्मिक अर्थ देकर समाज को भेद-भाव तथा क्रूर-कर्म से बचाने का प्रयत्न किया।

वर्ण व्यवस्था की स्थापना के समय और उसके पश्चात् अब तक भारतीय समाज जिन छोटे-बड़े वर्गों में विभाजित रहा, उन सब में यदि कोई एकता-सूत्र वर्तमान है तो वह शैव परम्परा ही है। इस परम्परा ने भारतीय जन-जीवन को अखंडता और समानता का अनुभव कराया है। लोगों को ज्ञान और भक्ति की एकता का मार्ग इसी परम्परा में प्राप्त हुआ है। हजारों वर्षों से भारत के विभिन्न भागों में बसे हुए आर्य और अनार्य, अवर्ण-सवर्ण तथा धनी और निर्धन, सभी लोग शिव के कल्याणकारी रूप की समान स्वतंत्रता से साधना करते हैं। किसी भी व्यक्ति को जाति या वर्ण के आधार पर शिव की भक्ति करने से आज तक धर्म का कोई भी नियम नहीं रोक सका। सवर्ण धनी यदि शिव की उपासना यदि मंदिरों में करते है, तो निर्धन अवर्ण किसी भी जलाशय के किनारे या वृक्ष के नीचे कंकड़-पत्थर या मिट्टी के शिव

शिव की स्थापना कर घाट-घाट में उसे पूजते हैं और कल्याण की कामना करते हैं। भारत का शायद ही कोई ग्राम या नगर ऐसा हो, जहाँ शिव-लिंग की स्थापना न मिले और शायद ही कोई ऐसा हिन्दू-परिवार होगा जिसमें छोटा या बड़ा कोई न कोई शिव की पूजा न करता हो। स्त्रियाँ तो प्रायः विवाह से पूर्व शिव-पार्वती की पूजा करके अच्छा वर पाने की कामना करती है। संसार की सभी धर्म-साधनाएँ विधि-अनुष्ठान की जटिलता के कारण केवल कुछ वर्गों तक ही सीमित रह गई है, किन्तु शैव साधना ने इस दोष से बचकर सदैव सभी वर्गों को एक मंच पर लाने का प्रयास किया है। छुआ-छूत और भेद-भाव को मिटा कर समाज को लौकिक और पारलौकिक कल्याण का मार्ग बताने वाली यह सरल और सहज परम्परा संसार के इतिहास में अद्वितीय है। प्रायः सभी धर्म आन्दोलनों और धर्म ग्रन्थों के बल पर संगठित और पुष्पित हैं, किन्तु शिव परम्परा मे ऐसा कोई प्रयास नही मिलता। जनता ने शिवोपासना को स्वेच्छा से सहज रूप में अपनाया है, अतः यह परम्परा सामाजिक जीवन मे व्यक्ति स्वातन्त्र्य की समर्थक रही है। शिव की भक्ति किसी ऐसी कट्टरधर्मिता को जन्म नही देती, जिसके कारण कभी किसी युग में रक्तपात किया गया हो या आगे ही कोई सभावना हो।

वास्तव मे 'शिव' का ईश्वरत्व समाज के संस्कृत मानस की सृष्टि है। अतः शिवोपासना का लक्ष्य समाज में सांस्कृतिक एकता स्थापित करके जीवन की विकृतियों का नाश करना है। इस उद्देश्य को प्रधानता मिलने के कारण ही पुराणों मे शिव के रूप, गुण और कथाओं में विभिन्न विरोधी बातों का एकीकरण किया गया है। एक ओर शिव अर्थात कल्याणकारी है, तो दूसरी ओर असुर--विनाश के लिये रुद्र अर्थात् भयंकर भी है। अर्द्धनारीश्वर होने के कारण वे स्त्री और पुरुष की सामाजिक एकता के प्रतीक है। सुर और असुर दोनों उनकी पूजा करते हैं। और वे दोनों को वरदान देते है। भक्त कोई भी और किसी भी जाति या वर्ग का हो, उनको प्रसन्न करके बड़े से बड़ा वरदान प्राप्त कर सकता है। जीवन और मरण का उनके रूप में एकीकरण हुआ है। शंकर और हर होने के कारण ये सृष्टि-प्रलय का सूत्र धारण करते है। अमृत और विष उनके लिये बराबर हैं। भोग और योग की एकता उनके जीवन में स्थाई रूप से अभिव्यक्त हो रही है। योगी होकर भी वे गृहस्थ है तथा अलौकिक परमतत्व होने पर भी सदैव लोक-जीवन मे एक रस रहते है। लोगों की मान्यता है कि शिव अपनी शक्ति पार्वती को लेकर लोक-चिन्ता में विश्व का भ्रमण करते है और आकाश को एक करने वाले कैलास पर उनका निवास है। इस प्रकार लोक से जुड़े रहकर भी वे सदैव दिव्य रहते है। उनके इन गुणों मे ही जन-जीवन की एकता के वे दृढ सूत्र समाए हुए है, जिन्हें कभी तोड़ा नही जा सकता।

लोक-जीवन को एकता की अनुभूति प्रदान करने वाली विभिन्न विद्याएँ और कलाएँ होती हैं। संस्कृत के विभिन्न ग्रन्थों के प्रभावों से यह सिद्ध है कि शिव ने ही अधिकांश कलाओं और विद्याओं को जन्म दिया है। इस प्रकार कलात्मक संस्कारों के मूल में शिव का एकता-सूत्र जुड़ा मिलता है। संगीत, नृत्य और नाटक का मूल सबंध सामान्य जनता से है। कहा जाता है कि शिव ने ही इन कलाओं को लोक रजन के लिये उत्पन्न किया था।

भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक शताब्दियों से फैले हुए विभिन्न शिव-तीर्थ जहाँ एक ओर देश की सांस्कृतिक एकता में योग देते आ रहे हैं वहाँ दूसरी ओर उन्होंने अन्य मार्गों से आने वाले विभिन्न भेद-भावों को समाप्त करने में भी योग पहुँचाया है। हजारों वर्षों से शिव के भक्त, धनी और निर्धन या ब्राह्मण या शूद्र इन तीर्थों की यात्रा करके देश की एकता को दृढ़ बनाते आ रहे है, उत्तर में रहने वाले भारतवासी को सुदूर दक्षिण में बने रामेश्वर मंदिर की भूमि समान रूप से प्रिय है तथा वहाँ तक रहने वाली जनता के प्रति उसे पूर्ण आत्मीयता का अनुभव होता है। उसी प्रकार दक्षिण के निवासी उत्तर में अमरनाथ तक की भूमि और उस पर निवास करने वाले लोगों में आत्मीयता का अनुभव करते है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शैव परम्परा भारत की एकता में अति प्राचीन काल से सहायक रही है। इस परम्परा ने एक ओर तो वे साधन प्रस्तुत किये है, जिनसे समाज में एकता की चेतना आये और दूसरी ओर वह उन तत्वों का निवारण भी करती रही है, जो एकता के मार्ग में बाधा डालने आते रहे हैं। भारत के सभी मतों और जातियों के लोगों को साम्प्रदायिक विभेद से बचाकर इस परम्परा ने एकता के सूत्र में बाँधा है। विभिन्न कालों में शक, हूण आदि अनेक जातियाँ और उनके विरोधी धर्म इस देश में आये, किन्तु शैव परम्परा में घुल-मिलकर वे ऐसी एकता के सूत्र में आबद्ध हुए कि अब उनको पृथक् कर सकना असम्भव है। देश के धार्मिक और सांस्कृतिक इतिहास का सर्वेक्षण करने से यह पता चलता है कि शिवोपासना की यह सार्वजनीनता ही उन्हें भारतीयता प्रदान करने में समर्थ हुई। आज भी ससार की यही एक मात्र ऐसी परम्परा है जो सब प्रकार के लोगों को कल्याण-कामना से एक मंच पर एकत्र होने की प्रेरणा दे सकती है।

: ६ :

त्रिलोक की विराट कल्पना का महाकाव्य तारकवध : कथा-सार

(स्व०) श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' आलोचक ही नहीं, एक अच्छे कवि भी थे। उनका महाकाव्य "तारकवध" कथानक की संघटन क्षमता की दृष्टि से विश्व के श्रेष्ठतम ग्रंथों में स्थान पाने का अधिकारी है। अतीत, वर्तमान और भविष्य को किस प्रकार उन्होंने अपनी महान् कल्पना और प्रतिभा से एक केन्द्र पर प्रस्तुत किया है, यह 'तारक वध' के निम्नांकित कथानक में द्रष्टव्य है :—

: १ .

अज्ञात अनादि ब्रह्म की सत्ता अनभिव्यक्त थी। उनसे महाशक्ति का उदय हुआ। समस्त प्रकृति उसी का रूप बनी। अज्ञात ब्रह्म-सत्ता के अनादि और अनन्त केन्द्र से हिंसा का साकार रूप बनकर रुद्र का विस्फोट हुआ। आकाशवाणी की प्रेरणा से ये अपना संहार करने के लिए प्रचण्ड-ताण्डव नृत्य करने लगे। नृत्य के कारण उनके विराट् शरीर के अणु अस्थिर होने लगे, जिससे ब्रह्मा, विष्णु, काम. अग्नि, रवि, शशि, यक्ष, गंधर्व, असुर, सिद्ध आदि उत्पन्न हुए। थक जाने के कारण जब वे विश्राम करने चले गए, तब महाशक्ति को वियोग का अनुभव होने लगा। उसने अपने दुःख को मिटाने के लिए नए श्रृंगार से रुद्र को रिझाने का निश्चय किया। किन्तु रुद्र को उसकी रचना अच्छी न लगी। जब खीझकर उसने अपनी रचना मिटाई तो रुद्र को नया रस मिला। तभी से महाशक्ति रचना करती और प्रिय को रिझाने के लिए खीझकर उसे नष्ट करने लगती। ऐसे अनेक अवसर आते-जाते रहे। एक बार महा ताण्डव नर्तन के पश्चात् जब महाशक्ति विरहित हुई, तब वह प्रियतम की शिथिलता दूर करने के लिए क्रीड़ा की खोज करती नन्दन वन में पहुँची। वहाँ रसाल-पल्लव पर रति-काम सो रहे थे। महाशक्ति ने प्रेम से दोनों के अधर और गालों को चूमा। आत्म-संहरण वृत्ति-विवश हो वह काम को जगाने की इच्छा से दोनों पर लेट रही। जब काम की आँख खुली तब वह उठी। दोनों नग्न थे, अतः वे लज्जित हो गए। महाशक्ति ने उन्हें पल्लवों के वसन दिये। तब उन्होंने उसके चरणों में झुककर प्रार्थना की। शक्ति के आशीर्वाद से काम-रति में शक्ति का स्फुरण हुआ।

उनके हृदय में उत्साह लहराने लगा, जिससे देवताओं में नवजीवन का संचार हुआ। फिर काम और रति दोनों आकर्षक रूप धारण कर नए शिकार की खोज मे चले।

: २ :

नर्तन के पश्चात् रुद्र शिथिल हो गए थे। वे धीरे-धीरे शान्त और शीतल होते जा रहे थे। उसी समय काम का बाण उनकी छाती में लगा। उसे उन्होंने अपने सामने उपस्थित देखा। उनके लिए सब कुछ सह्य था, पर वे काम का प्रहार न सह सके। उसने उन्हें महाशक्ति के विरह का स्मरण कराया। बोला—शक्ति नई रचना के उपकरण चाहती हैं। तब शिव ने काम का संहार करके उसे सदैव अतृप्त रहने का अभिशाप दिया। अभिशाप स्वीकार कर वह नई सृष्टि-रचना के लिए ब्रह्मा के पास गया और उनके वक्ष पर भी उसने तीर मारा। उनकी पुत्री शारदा भी वहीं थी। वह प्रभावित हो गई। ब्रह्मा भी सजग हुए। उन्होंने भार उतारने की इच्छा की तो कार्तिकेय उत्पन्न हो गए। दोनों की विचित्र जोड़ी देखकर ब्रह्मा का मन उत्साहित हो उठा। काम ने उन्हें वेदना को हृदय में रखकर जगत-रचना की प्रेरणा दी। फिर वह विष्णु के पास चला गया। ब्रह्मा को सृजन की चिन्ता कुछ देर तक रही फिर उन्होंने शंकर की स्तुति करते हुए सृष्टि-रचना के लिये उनके सहयोग का आह्वान किया जिससे उन्हें नयी स्फूर्ति एवं नयी कल्पना प्राप्त हुई। उन्होंने स्वर्ग लोक का निर्माण किया, उसके पश्चात् मर्त्य लोक का उदय हुआ। स्वर्ग लोक को देखकर वे प्रसन्न हुए। सृष्टि-रचना करने पर कन्या शारदा और जामातृ के विनाश की उन्हें चिन्ता हुई। उधर कामदेव ने महाशक्ति के आदेश से विष्णु पर जाकर बाण चलाया। फिर उसने विष्णु से क्षमा माँगी और बोला—रुद्र समष्टि को विकेन्द्रित करेंगे, जिससे ब्रह्मा सृष्टि रचेंगे। विष्णु ने सृष्टि के कण कण में बसने व जन्म-मरण के मध्य विकास बनने का वचन दिया। रुद्र ने विधाता की रचना को उपकरण देने के लिए कामना-धारा प्रवाहित की। उस धारा ने सृष्टि को खण्डित कर शारदा को अपना भवन त्यागने को विवश कर दिया। वह विरहिणी बन गई और विरह को आवश्यक मानने लगी। उधर कार्तिकेय भी विरह से अधीर हो वहाँ पहुँचे और शारदा को नए वेश में रति समझ तारक से पीड़ित होने का शाप दे दिया। फिर बोले—कल्पान्त में मेरे द्वारा तारक मारा जाएगा। तब तुम्हें शाप से मुक्ति मिलेगी। अभिशाप लगते ही शारदा कल्प भर के लिए राख का ढेर हो गई। विष्णु ने कार्तिकेय से कहा कि रुद्र ने आत्मसंहरण की जो परम्परा चलाई, उसमें काम ने योग दिया किन्तु शारदा कामवश हुई. तुम भी हुए; फलत: शारदा नाशोन्मुखी हुई तुम भी अनायास वेदना के अधिकारी बन गए। यह सुन कर कार्तिकेय बेहोश हो गए। विष्णु ने उन्हें कल्पान्त में विभाण्ड़क मुनि के घर शृंगी ऋषि के रूप में अवसर लेने का वर दिया और कहा—ब्रह्म शारदा

के अंगों से दशरथ के घर शान्ता की उत्पत्ति करेंगे जो उन्हें प्राप्त होगी। जब विष्णु ने ब्रह्मा के पास शारदा की भस्म पहुँचाई तो वे रो पड़े। कार्तिकेय भी पश्चाताप करने लगे। वे विरह में रोते फिरे। सर्वत्र विरह-वेदना फैलने लगी। देवताओं में अनुशासनहीनता फैल गई। इन्द्र ने क्रुद्ध होकर रुद्र को सूचना दी कि मैं विद्रोही अमरों का निष्कासन कर दूँगा। रुद्र ने उत्तर दिया कि तुम्हारे नियम ऊँचे रहेंगे, पर वेग रोकना तुम्हारे लिये कष्टकर होगा। इन्द्र ने मन्त्रियों की सलाह से विद्रोही देवों को निकालने का निर्णय लिया।

: ३ :

ब्रह्मा ने मर्त्य लोक बनाया। पहले आकाश, फिर पवन, फिर पावक, फिर ल और फिर जल में शारदा की राख रखकर धरती बनाई। ऊपर देव, मध्य में मानव और नीचे दानव का स्थान निर्धारित किया। फिर ब्रह्मा सोचने लगे—मेरी कन्या (शारदा की राख से बनी) पृथ्वी दानवों से पीड़ित होगी। दानव ने प्रश्न किया—मुझे बनाया ही क्यों? ब्रह्मा ने वर दिया कि तुम रुद्र के समान प्रलंयकर बनोगे तुम्हारे कुल में तारक होगा, जिससे देव और मानव पीड़ित होंगे, तब शिव-पार्वती से जन्म लेकर कार्तिकेय उसका नाश करेगा। अब तुम मर्त्य लोक में जाकर शीघ्र अपना काम सम्हालो, जिससे रुद्र और शक्ति तुम्हें अपना भार देकर अवकाश लें। दानव ने ब्रह्मा के आशीर्वाद को दान के रूप में स्वीकार न कर तप करने का निश्चय प्रकट किया। उसके तप से प्रसन्न होकर रुद्र और शक्ति ने शिव-उमा के रूप में पृथ्वी पर आने की भविष्यवाणी की और उसे प्रकृति-संहरण अस्त्र दिये। दानव प्रसन्न होकर पृथ्वी-आकाश को कम्पित करता हुआ दौड़ने लगा। वह विकृत हिंसक बन गया। ब्रह्मा घबरा उठे। पुत्री शारदा का स्मरण करके उनकी छाती फटने लगी। देवताओं को इन्द्र ने देश-त्याग का आदेश दिया। रुद्र के किसी भी अचल आदेश को मानना अनुचित समझ मर्त्य लोक में सब देवताओं को लेकर जाना उचित समझा। ब्रह्मा ने भी मर्त्य लोक में जाने का निश्चय किया तो विष्णु प्रकट हुए और उन्होंने ब्रह्मा को वहाँ जाने से रोका तथा स्वयं कार्तिकेय का पूर्ववत् रूप धारण कर दानव को मारने का अपना निश्चय प्रकट किया। फिर वे दोनों ही देवताओं को विदा करने गए। किन्तु नारद को रोक लिया। उन्हें विष्णु ने घूमते-फिरते रहने तथा वृद्ध ब्रह्मा को आश्वासन देने का काम सौंपा। विष्णु ने स्वयं बहुत चतुराई से प्रकृत षड़ानन का रूप अपने भीतर ले लिया तथा भ्रामक रूप विश्व को दे दिया। किन्तु इसे कोई भी न जान सका। देवता रति-प्रेरित विलास की प्यास से चंचल हो उठे। सबसे अधिक प्यास दानवों में जगी। जिनमें मध्यम प्यास थी वे मानव बने और कम प्यास वाले देव रह गए। प्रलयंकर रुद्र ने शिव बनकर कैलाश को निवास

बनाया। शक्ति हिमाचल के गृह चली गई। स्वर्ग सूना होने पर इन्द्र और इन्द्राणी समाजहीन एकाकी जीवन से दुःखी हो स्वतः सामने आगत विष्णु के चरणों में नत हो नया मार्ग पूछने लगे। विष्णु ने नवीनता को ही जीवन बतलाया तथा एक कल्प तक तप करके देवों को पुनः वापिस पाने की राय दी। फिर वे क्षीरसिन्धु को चले गये।

सदाशिव मर्त्य जग की भयंकर व्याधियों से बचने के लिए अखण्ड समाधि लगाने ही वाले थे कि तभी सब देवता वहाँ आए और बोले कि "आप समाधि लेकर विगत विकार हो जाएँगे, तो हमारे लिए कौनसा आधार रहेगा ?" शिव ने उन्हें आश्वासन दिया कि उन्हें आवश्यकतानुसार विष्णु से पोषण तत्व मिलता रहेगा तथा रति आकर जगत को रसाधाम बनाएगी। शिव ने समाधि प्रारंभ की तो पार्वती कामना में मग्न होने लगी किन्तु हिमाचल व मेना को व्यथा हुई। उधर षड़ानन और शारदा की याद करके ब्रह्मा दुखी हो रहे थे। उन्होंने नारद को पृथ्वी के पास जाने का आदेश दिया। नारद चले तो उन्हें मार्ग में रोती हुई रति मिली। वह नन्दन वन में रह चुकी थी। अतः अब मर्त्य लोक में नहीं जाना चाहती थी। उसने कहा कि वहां मेरे पति मदन तो पुरुष होने के कारण दोष से बचे रहेंगे, किन्तु मैं सृष्टि-विकास के लिए नीच जनों में जाकर पापिनी ही कहलाऊँगी। नारद ने उसे आशीष दिया कि तुम अनेक पतियों से रमण करके भी मदन की पतिव्रता पत्नि प्रसिद्ध रहोगी। उन्होंने उसे शीघ्र जाकर मदन की विरह व्यथा मिटाने की राय दी। ज्योंही नारद चले, त्योंही विष्णु ने प्रकट होकर उन्हें विश्व के निराश जनों को आशा और आस्था का संचार करने एवं विकृत हिंसकों से प्रकृति अहिंसकों की रक्षा में योग देने मर्त्य लोक भेजा। आकाश-मार्ग से जाते समय नारद ने नक्षत्रों से बातें की। कुछ सुखी थे, तो कुछ दुःखी भी थे। सूर्य को दुख था कि स्वर्ग से आने के पश्चात् उसकी पुत्री उससे कहीं छूट गई है। संध्या विषाद ग्रस्त मिली, किन्तु उसी में वह रस समझती थी। इसी प्रकार यामिनी, चन्द्रमा, ऊषा और ध्रुवों का दर्शन करते हुए नारद कैलाश पर पहुँचे, जहाँ शिव समाधि-मग्न थे। नारद ने मन भर कर उनका दर्शन किया एवं स्तुति करके वे वहाँ से चल दिए और हिमाचल के घर जा पहुँचे। उन्होंने उससे पूछा कि मर्त्य लोक में आकर तुम्हें कैसा लगा, तो उसने स्वर्ग की तुलना में अधिक रस की प्राप्ति स्वीकार की। किन्तु उसकी एक व्यथा यह थी कि हिम-प्रदेश की सभी कन्याएँ स्वयं अपने पति की खोज करने को स्वतन्त्र हो गई है और उसकी कन्या पार्वती शिव से अनुराग करती है। उसी समय पार्वती वहाँ आ गई। उन्होंने शिव के प्रति अपने प्रेम के निश्चय की अटलता प्रकट की तो नारद ने परीक्षा लेने के उद्देश्य से काम देव की प्रशंसा करके उन्हें उससे शादी करने को कहा। जब वे अपने निश्चय पर अटल रही तो नारद उन्हें तपस्या करने की राय देकर वहाँ से भी चल

दिए। आगे पहुँचकर उन्हें विभांडक मुनि का आश्रम मिला, जहाँ पुत्रोत्पत्ति का उत्सव मनाया जा रहा था। विभांडक ने प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिलाने के लिए अपना पुत्र उन्हें दिखलाया। नारद ने कार्तिकेय को शृंगी-ऋषि के रूप में अवतरित देख मन ही मन सोचा कि क्या समस्त काल व्यतीत हो गया और अन्तिम त्रेता-युग आ गया? फिर उन्होंने विभांडक को बताया कि यह बहुत महान् बालक है तथा पत्नी वियोग में तपस्वी बनेगा।

जब नारद आगे चले तो पिता सूर्य से अलग होकर स्वयं प्रियतम की खोज में अधीर यमुना मिली। इसी प्रकार वे अनेक प्रदेशों में विचरण करते रहे। उन्होंने राजा दशरथ की प्रजा को देखा, जो तारकासुर से नित्य नए अत्याचारों से पीड़ित थी। दुखी होकर प्रजा की रक्षा के लिए उपाय सोचने के लिए नारद हरिद्वार में गंगातट पर बैठकर ध्यान करने लगे। उन्हें बोध हुआ कि किसी दक्षिणी विपिन में ऋषि का आश्रम है। वे वहाँ प्रिया को प्राप्त करने के लिए दिन रात उत्कण्ठित रहते हैं। यह बोध होते ही नारद वहाँ से उठकर उसी ओर चल पड़े। मार्ग में तारक के अत्याचारों से पीड़ित अबलाएँ रोती मिलीं तथा कई स्थानों पर तरुणों में दानवों के विरुद्ध जागरण का वातावरण देखा। मार्ग में अवध की राजलक्ष्मी रूठकर जाती हुई मिलीं। नारद ने दशरथ को समझाने का उसे आश्वासन दिया और कहा कि उसी वंश में निवास करो, क्योंकि उसमें शीघ्र ही राम अवतार लेगें। फिर राजलक्ष्मी अन्तर्धान हो गई और नारदजी भी तीव्र गति से अवधपुरी की ओर चल पड़े।

: ४ :

षड़ानन के हृदय से प्राण-प्रिया शारदा की विरह-वेदना दूर न हुई, उन्होंने अनेक योनियों में शारदा को पाने के लिए जन्म लिया, किन्तु सफल न हुए। वे जड़ और चेतन दोनों ही रूपों में बार-बार नवजीवन धारण करके धरती को अपना स्नेह देते रहे। जब किसी भी योनि में जन्म लेने से उनकी पीड़ा दूर न हुई, तब उन्होंने विभांडक का पुत्र बनकर–धरती पर जन्म लिया और शृंगी ऋषि के नाम से प्रसिद्ध हुए। शीघ्र ही उनके शैशव और किशोर रूपों ने पिता के साथ-साथ अन्य सभी दर्शकों को भी मुग्ध कर लिया। देश-विदेश की सुन्दर कुमारियाँ उनसे शादी करने को लालायित हुईं, किन्तु उनके मानस में रस का संचार न हो सका। उन्होंने ग्रीष्म ऋतु से तप की शिक्षा ली। फिर वे प्रतीक्षा करने वाली अनेक सुन्दर कुमारियों का प्रेम ठुकराकर दक्षिणारण्य में तपस्या करने चले गए। वहाँ उन्हें अचानक कार्तिकेय के दर्शन हुए। कार्तिकेय ने उनको अभय होने की प्रेरणा दी तथा कहा कि विधाता ने शारदा की राख से शान्ता का उद्भव किया है, जो नारद की प्रेरणा से शीघ्र तुमसे

आकर मिलेगी। इतना कहकर षड़ानन ने शृंगी ऋषि को शान्ता का एक चित्र दिया और स्वयं अदृश्य हो गए। उस चित्र को देखकर शृंगी ऋषि बहुत मुग्ध हो गए। एक दिन वे शान्ता की खोज में निकले। नारद से उनकी भेंट हो गई। वे उन्हें साथ लेकर अपने आश्रम पर लौट आए। वहाँ उचित सत्कार के पश्चात् उन्होंने नारद से उनके आगमन का कारण पूछा। नारद ने मानवेन्द्र की प्रजा के दुखों का उल्लेख किया तथा कामना व्यक्त की कि तुम्हारे समान शांति और कल्याण फैलाने वाले व्यक्ति हो तो संसार का मंगल हो जाये। उन्होंने यह भी बताया कि तुम षड़ानन का अवतार हो और शान्ता शारदा का रूप है तथा शीघ्र ही तुम्हारा वियोग समाप्त होने वाला है। नारद की यह बात सुनकर सभी जीवों को हर्ष हुआ। नारद ने षड़ानन की पर्ण व्यथा का विस्तार पूर्वक वर्णन करके सबको मुग्ध किया। उपकृत होकर शृंगी ऋषि उनका आलिंगन कर अपना प्रेम भाव प्रकट करने लगे। अन्य सभी ऋषियों का भी उन्हें सम्मान मिला। फिर शान्ता के शीघ्र मिलने का आश्वासन देकर नारद अयोध्या को चले गए। वहाँ उस समय अकाल पड़ रहा था। शान्ता को ऐसे भयंकर समय में अपने विवाह की चर्चा सुनकर क्लेश होता था। वह सोचती थी कि मैंने स्वप्न में अपने प्रिय को दक्षिण विपिन में आश्रम बनाकर रहते देखा है। मैं उसको अपने आप खोज लूंगी। यद्यपि उसे यह विश्वास था तथापि वह निरन्तर प्रिय के विरह में आँसू बहाती हुई प्रकृति के विभिन्न पदार्थों के माध्यम से अपना संदेश प्रिय तक भेजने को अधीर रहती थी।

: ५ :

वशिष्ठ ने स्वप्न में देखा कि महामुनि नारद आ रहे है। उन्होंने जागकर अरुन्धती को बताया और फिर वे दोनों व्यक्ति मुनि के स्वागत के लिए नगर के बाहर पहुँचे। नारद उनसे मिलकर बहुत प्रसन्न हुए और सम्मानित होकर अयोध्या की ओर चल पड़े। वहाँ पहुँचकर नारद ने वशिष्ठ के घर कुछ समय तक विश्राम किया, फिर राज सभा-भवन में आयोजित सम्मेलन में भाग लेने चले गए। वहाँ राजा दशरथ ने उचित सत्कार के पश्चात् उपस्थित जनसमुदाय के सम्मुख उन्हें दुर्भिक्ष के कारण जनता को मिलने वाले कष्टों की सूचना दी। नारद ने समझाया कि हे राजन्! काल सबसे अधिक बलवान है, वह सबको पराजित कर देता है। जिसे अहंकार और प्रमाद हो जाता है, वह काल के हाथों से नष्ट होता है। तुम भी कुछ प्रमादी हो गए थे तथा तपस्या एवं संयम को भूल बैठे थे। प्रजा ने तुम्हारा अनुकरण किया। फलतः यह दुर्भिक्ष देखना पड़ा। अब अयोध्या में जो सबसे पवित्र हो वह तपस्या करे तो प्रजा का संकट दूर हो सकता है। उन्होंने आगे कहा कि शान्ता ही उस योग्य है, तुम उसे शृंगेर पर्वत पर तप करने वाले शृंगी ऋषि के पास भेजो। वह उनको प्रियतम

बनाकर अयोध्या ले आए तो वर्षा हो सकती है तथा सभी संकट टल सकते हैं। नारद
की बात सुनकर राजा दशरथ को हर्ष और दुःख दोनों का एक साथ अनुभव हुआ।
प्रजा को संकट से मुक्ति दिलाने वाला मार्ग उन्हें बहुत कल्याणकारी प्रतीत हुआ।
हिंसक जीवों की निवास भूमि वन में अपनी सुकुमार कन्या शान्ता को अकेला भेजना
उन्हें अमंगलकारी प्रतीत हुआ। किन्तु जब नारद ने पुनः उठकर उन्हें उत्तेजित किया
तो वे शान्ता को वन भेजने के लिए तैयार हो गए। उन्होंने पहले माताओं आदि से
मिलने के लिए उसे राज भवन जाने की आज्ञा दी। शान्ता मन में बहुत प्रसन्न हो
रही थी, क्योंकि उसकी मनचाही स्वतन्त्रता नारद दिला रहे थे। पिता की बात सुन-
कर वह बोली कि हे पिता! माताओं के पास मुझे ले जाकर आप ममता का बन्धन
अधिक कड़ा क्यों करते हैं? मुझे वन में कोई कष्ट नहीं होगा। अतः यहीं से
वन जाने का आदेश दीजिए। किन्तु दशरथ भावावेश में आकर अधिक न बोल सके
एवं मुनि की आज्ञा लेकर राज भवन को चले गए। वहाँ एक विशेष कक्ष में सभी
रानियाँ एकत्र होकर मनोरंजनार्थ चौपड़ खेल रही थी। अचानक कौशल्या की दायीं
आँख फड़कने लगी। उन्होंने घबराकर सेविका को आज्ञा दी कि वह शीघ्र राजकुमारी
शान्ता को खोजकर लाए। तभी अचानक शान्ता वहाँ आ पहुँची। तीनों माताओं ने
उन्हें प्यार से गले लगा लिया। शान्ता ने कहा कि हे माताओं! मुझे जन-कल्याण के
लिए शृंगी वन में जाने और शृंगी ऋषि को लाने का आदेश दीजिये। यह सुनते
ही माताओं के हृदय पर वज्रपात-सा हुआ। साहस करके कैकयी ने राजा को सम-
झाया कि वे पुत्री को वन में न भेजे क्योंकि उससे कुल-मर्यादा भंग होगी। कैकयी ने
आवश्यकता पड़ने पर प्रजा के हित के लिये कोई भी बड़ा त्याग करने का वचन
दिया। अन्य उपस्थित जन भी शान्ता को वन में भेजने की बात सुनकर दुःखी होने
लगे। शान्ता को समझाने पर भी जब माताओं का हृदय शान्त न हुआ तो राजा ने
सेवक भेजकर महामुनि को ही वहाँ बुलाया। मंत्रियों की राय से वे शृंगी ऋषि को
एक पत्र भेज देने के लिए भी तत्पर हुए। तभी मुनि के साथ वशिष्ठ भी वहाँ आ
गए। उन्होंने लम्बा उपदेश देकर सब रानियों को समझाया और फिर उसका प्रभाव
देखने लगे। कौशल्या ने हृदय कड़ा करके शान्ता को वन भेजना स्वीकार कर लिया।
मानस नामक यान में बैठकर जब शान्ता जाने लगी तो प्रजा-जन रो-रोकर उन्हें रोकने
लगे एवं स्वयं दुर्भिक्ष जन्य कष्ट सहने को तैयार हो गए। वे सब इतने दुःखी हुए कि
शान्ता के समझाने पर भी उनका रोदन शान्त नही होता था। जब लोगों की भीड़
अधिक बढ़ने लगी तो राजा ने द्वार बंद करने की आज्ञा दी और प्रवेश निषिद्ध कर
दिया। फिर उन्होने शान्ता को समझाया कि तुम सदा शृंगी ऋषि को प्राप्त करने
का लक्ष्य सामने रखकर साधना करना एवं प्रकृति की मायावी कल्पनाओ से आकर्षित
मत होना। शृंगी ऋषि का एक चित्र तथा उनके लिए एक पत्र उन्होंने शान्ता को

दिया तथा भूख प्यास से बचने के लिए प्राणदा नाम की एक औषधि भी प्रदान की। गुरु ने भी उन्हें मंगलकारी आशीर्वाद दिया और गणेश-पूजा का विधान पूरा करके भाल पर तिलक लगाया। तत्पश्चात् मुनि और गुरु दोनों राजा को धैर्य बंधाकर भवन से बाहर चले गए।

: ६ :

जब शान्ता को ले जाने के लिए मानस विमान आ गया तो राज-भवन के सभी स्त्री-पुरुष धीरज खोकर रो पड़े। माताओं के हृदयों को असह्य वेदना हुई। कौशल्या ने बहुत धैर्य धारण करके अपनी प्राण-प्यारी पुत्री को विदा के अनुकूल अनेक बातें समझाई। वे चाहती तो यही थीं कि शान्ता को विदा के समय कोई वेदना न हो किन्तु बहुत सावधानी से अपने हृदय के भाव व्यक्त करने पर भी वे अपनी वेदना के प्रवाह को रोक नहीं पाती थीं। अन्त में वे बेसुध होकर गिर पड़ी। कुछ समय पश्चात् शान्ता के प्रयत्न से उन्हें पुनः चेतना प्राप्त हुई। जब माताओं के साथ शान्ता विमान के निकट आई, उस समय चारों ओर उनको विदा देने के लिए अनेक स्त्री-पुरुष एकत्र थे। वे सब शान्ता को वन जाते देख फूट-फूट कर रो पड़े। वेदना का प्रवाह इतना तीव्र हो उठा कि भवन की दीवारें और अन्य सभी जड़-चेतन पदार्थ भी रोते प्रतीत हुए। यान के आकाश में उड़ते ही समस्त वातावरण विषाद का समुद्र बन गया तथा सर्वत्र भयानकता छा गई। वशिष्ठ और अरुन्धती के ज्ञान की सीमाओं को भी उस वेदना ने तोड़ दिया। महामुनि नारद ने कुछ क्षण तक उस वेदना से प्रभावित रहकर कर्त्तव्य का ध्यान आते ही अपना आगे का कार्यक्रम निर्धारित किया और अनेक प्रकार से वशिष्ठ को धैर्य देकर वे वहाँ से आश्रम की ओर चले गये।

: ७ :

मानस-यान में आरूढ होकर ज्योंही शान्ता आकाश मार्ग से चली त्योंही उसे सूर्य पुत्री यमुना और हिमाचल कन्या पार्वती का ध्यान आया। उसने इनसे मिलकर आशीर्वाद पाने के विचार से अपना यान उत्तर की ओर मोड़ दिया। सबसे पहले उसकी यमुना से भेंट हुई। उसने पहले तो शान्ता को शंका की दृष्टि से देखा, फिर अपनी शुभकामनाएँ व्यक्त करके माता हिम देवी तथा पिता सूर्य के लिए संदेश दिया। शान्ता उसे सुनकर पार्वती से मिलने चल पड़ी। उसका यान ऊंचा उठता हुआ आकाश में उड़ा और उस पर्वत पर पहुँचा जहाँ पार्वती शिव को पाने के लिए तपस्या कर रही थीं। शान्ता को देखकर पार्वती ने वहाँ आने का कारण पूछा और फिर बतलाया कि मैं शिव को प्राप्त करने के लिए तप कर रही हूँ। किन्तु वे तब जागेगें जब कामदेव-रति की विरह वेदना, शृंगी ऋषि का रुदन, मेरा तप, तुम्हारा

सौभाग्य तथा ससार की पीड़ा के अन्त का योग एक साथ आएगा। इतना कहकर पार्वती ने उन्हें शृंगी ऋषि के पास जाने की राय दी। शान्ता वहाँ से चलकर शृंगी पर्वत पर पहुँची और वहां का अनुपम प्राकृतिक दृश्य देखा। पिता द्वारा प्रेषित हल्दी अंकित पत्र उसने एक स्थान पर रख दिया और एक पेड़ के नीचे खड़ी होकर वह तप लीन शृंगी ऋषि का मनोहर रूप देखने लगी। शृंगी ऋषि ने उस पत्र को पढ़ा और पुलकित होकर शान्ता के दर्शन किए। फिर दोनों ने अपने प्रेम से लोक जीवन को सुखी बनाने का निश्चय किया। उस समय शान्ता के आगमन के कारण विचित्र पक्षी तथा अन्य जंगली जीव-जन्तु वहाँ एकत्र हो आए और उन सब ने विभिन्न रूपों में शान्ता के प्रति अपना अनुराग प्रकट किया।

: ८ :

शृंगेरी वन में शान्ता और शृंगी ऋषि का मिलन होते ही वर्षा ऋतु प्रारंभ हो गई। दोनों ने उस सरस ऋतु में वन का भ्रमण कर प्रकृति के सौंदर्य का आनन्द प्राप्त किया। एक दिन अचानक शान्ता को अयोध्या लौटने का ध्यान हो आया। उसने शृंगेरी वन आने का अपना समाज हित सम्बन्धी उद्देश्य बताकर शृंगी ऋषि से अपने साथ अयोध्या चलने की प्रार्थना की। वे उसकी इच्छा पूर्ति के लिए वहां जाने को तैयार हो गये, किन्तु जाने से पूर्व आश्रय के निकटवर्ती जीवों के सुख विधान के लिए उन्होंने एक यज्ञ करना चाहा। उस यज्ञ के लिए सुमन आदि सामग्री लेने के लिए शान्ता वन में गई। वहाँ वह ज्यों-ज्यों आगे बढी त्यों-त्यों वहाँ का दृश्य उसे लुभाता गया। वह उस आकर्षण में बंधी हुई आश्रम से बहुत दूर चली गई।

: ६ :

दक्षिणी ध्रुव के पास समुद्र के मध्य दैत्यों का एक सुन्दर द्वीप था। वहाँ तारक शासन करता था। उसने संसार भर की विलास-सामग्री वहाँ एकत्र करली थी। वह रुद्र और शक्ति का उपासक था तथा शिव-पार्वती का विरोधी था। नित्य नई नारियों का भोग करने का अभ्यासी वह महादानव इन्द्राणी को प्राप्त करना चाहता था, किन्तु दशरथ ने शिव से अस्त्र लेकर युद्ध में इन्द्र की सहायता कर दी थी, इसलिए वह अपने उद्देश्य में विफल हो गया था। इस अपमानजनक घटना ने उसे शिव और दशरथ का विरोधी बनाया था। तारक के दो पुत्र सुमाली और विद्युन्माली बहुत अत्याचारी थे। उसके गुप्तचर सर्वत्र छिपकर घूमा करते थे, अतः जब उन्होंने शान्ता के वन में आने का समाचार दिया तो सुमाली और विद्युन्माली ने उसके हरण की योजना बनाई। उनका तीसरा ज्येष्ठ भ्राता तारकाक्ष सच्चरित्र और सद्भावना-युक्त एवं प्रगतिशील विचारों का व्यक्ति था। उसकी माँ भी उसी के समान

उदार विचारों की थी। वह अपनी मां से क्रान्ति करके पिता तारक के शासन में सुधार लाने के लिए अपनी मां से परामर्श कर रहा था कि अचानक तारक के दूतों ने आकर राजाज्ञानुसार उस भवन में दोनों को वन्दी वना दिया।

शृंगी ऋषि के तपोवन के पास तारक का एक भवन था। वहाँ उसने दो दानवों को शान्ता के हरण के लिए नियुक्त कर दिया था। वे दानव न तो तपोवन की सीमा में प्रवेश करने में समर्थ थे और न शान्ता व शृंगी ऋषि के अवध चले जाने पर उन्हें वहाँ से ही ला सकते थे। इसलिए शान्ता को आकर्षित करने के लिए उन्होंने अरुण-सुमन की एक मनोहर कुंज वनाई थी, जिससे आकर्षित होकर शान्ता वहाँ चली गई। जव फूल चुनकर वह आश्रम की ओर लौटने लगी तो उन दानवों को देख कर वेसुध होकर गिर पड़ी। वे उसे एक वायुयान में विठाकर शोणितपुर ले गए। शत्रु-कन्या के हरण में अपनी सफलता देखकर तारक वहुत प्रसन्न हुआ। उसने अनेक गुप्तचरों की नियुक्ति करके ऐसी व्यवस्था कर दी, जिससे शोणितपुर का कोई समाचार वाहर न जाएं, किन्तु शत्रु की सभी आवश्यक सूचनाएं यथासमय मिलती रहें। शान्ता को जिस वंदी-गृह में रखा गया था, वहा उसके भोजन आदि की सव व्यवस्था की गई थी, किन्तु उसने सभी सुविधाओं को ठुकरा दिया। अयोध्या से चलते समय गुरु ने उसे जो औषधि दी थी, उसी को कभी-कभी खाकर वह जीवनी शक्ति प्राप्त कर लेती थी तथा अयोध्यावासियों के चित्र वनाकर अपना समय विताया करती थी।

: १० :

धीरे-धीरे शान्ता का शरीर दुर्वल होने लगा। वह अपना विरह संदेश अरुणा-नदी, चन्द्र आदि के माध्यम से प्रियतम तक पहुँचाने में अधीर रहने लगी।

: ११ :

शृंगी ऋषि को प्रतीक्षा करते वहुत समय हो गया, किन्तु शान्ता नहीं आई। वे अधीर हो उठे और उसके विरह में समस्त वन में रोते फिरे। कई वार चेतना खोकर भूमि पर गिरे और कई वार वन-निकुंजों में पागलों की तरह प्रलाप किया। उनकी असह्य पीड़ा से द्रवित होकर भगवान विष्णु ने उन्हें दर्शन दिये और फिर कार्तिकेय के रूप में प्रकट होकर उन्हें विश्वास दिलाया कि मैं शीघ्र शिव पार्वती के पुत्र के रूप में अवतार लेकर तारक-वध में तुम्हारा सहायक वनूंगा। वे उन्हें अवध में जल-वर्षा करके अकाल मिटाने की प्रेरणा देकर अन्तर्धान हो गए। उनके जाने के पश्चात् शृंगी-ऋषि ने आश्रम के जीवों को धैर्य का उपदेश दिया और फिर मानस-यान में वैठकर वे अवध की ओर चले गए।

: १२ :

शान्ता के वन चले जाने के पश्चात् अवध का राजभवन शोक-निमग्न हो गया था। सभी लोग उसकी याद करके रोते रहते थे। धीरे-धीरे जब बहुत समय व्यतीत हो गया और शान्ता शृंगी ऋषि के साथ लौटकर न आई तो उनकी वेदना तीव्रतम हो उठी। गुरु वशिष्ठ और अरुन्धती भी दुखी रहने लगे। एक दिन वशिष्ठ ने ध्यान लगाकर शान्ता के बन्दी होने की घटना को जान लिया। उसकी मुक्ति का कोई उपाय समझ में न आने पर वे अरुन्धती को सब बातें समझाकर वन में तप करने चले गए। राजा, मन्त्री आदि सभी घबराकर उन्हें खोजने लगे। इक्कीसवें दिन वशिष्ठ नगर लौट आए। उनके आते ही वर्षा का वायुमण्डल बना। शीघ्र ही बरसते हुए बादलों से निकलकर शृंगी ऋषि का मानस-यान अयोध्या में आया। लोगों ने अधीर होकर उनसे शान्ता के विषय में पूछा तो उन्होंने रुद्र-शक्ति, शिव-पार्वती आदि का आध्यात्मिक विवेचन करके शिव एवं कार्तिकेय की भक्ति करने की प्रेरणा दी तथा बताया कि शिव को पाने के लिए घोर तपस्या करके पार्वती अपर्णा बन गई है। काम की प्रेरणा से जब शिव की समाधि टूटेगी और पार्वती से उनका विवाह होगा, तब उनसे उत्पन्न होने वाला पुत्र कार्तिकेय तारक का संहार करेगा। इतना समझाकर शृंगी ऋषि स्वयं भी कार्तिकेय की साधना करने के लिए मानस-यान में बैठकर वन को चले गए।

: १३ :

अयोध्या में जब शान्ता के बंदी होने का समाचार फैला तो समस्त सेना में उत्तेजना उत्पन्न हो गई। सेनापति ने भी सबको वीरता का उपदेश दिया। इस प्रकार समस्त अयोध्या में समर का वातावरण बनने पर राजा ने गुरु से परामर्श किया और उन्हें शृंगी ऋषि के उपदेश का स्मरण दिलाया। गुरु ने कार्तिकेय की आराधना करने के साथ-साथ रण की तैयारी की भी राय दी। फलतः अवध की समस्त स्थल, जल एवं नभ सेना युद्ध के लिए सज्जित होने लगी। महासचिव ने तारक के पास समर-घोषणा भेजी और कहलाया कि यदि सात दिन के भीतर शान्ता को नहीं लौटाया तो शोणित द्वीप के दुर्दिन आ जाएंगे। किन्तु जब वहाँ से कोई उत्तर प्राप्त न हुआ तो राजा दशरथ ने विशाल सेना लेकर शोणितपुर पर चढ़ाई कर दी। उनके साथ युद्ध के लिए महारानियाँ भी गईं। मार्ग में चित्रकूट के पास दक्षिण के राजाओं ने संगठित होकर उन पर चढ़ाई करदी, किन्तु अन्त में वे हारकर भाग गए।

अयोध्या से जाने के बाद नारद मुनि ने ध्यान लगाकर शान्ता के हरण और शृंगी ऋषि के अवध-प्रयाण का समाचार जान लिया था। अतः वे चित्रकूट में रुक-

कर समाधिस्थ हो गए थे। जब उन्होंने शरद ऋतु आने पर अपनी समाधि तोड़ी तब उन्हें राजा दशरथ के युद्ध-प्रस्थान का समाचार ज्ञात हुआ। राजा दशरथ दक्षिण के राजाओं को जीतकर तथा अर्द्ध लक्ष्य शत्रुओं को बन्दी बनाकर शोणित नगर की ओर जाने ही वाले थे कि अचानक नारद की वीणा सुनकर वे उधर मुड़ पड़े। वहाँ पहुँचकर उन्होंने मुनि से विजय के लिए आशीर्वाद की याचना की। मुनि ने समझाया कि तुमने वीरता का आश्रय लिया, यह राजा के अनुकूल और प्रशंसनीय है, किन्तु स्थायी विजय के लिए हिंसा की अपेक्षा तुमको करुणा का मार्ग अपनाना चाहिए उन्होंने राजा को परामर्श दिया कि तुम समस्त बंदियों को मुक्त करके उनका हृदय करुणा से जीतो। राजा की जिज्ञासा बढ़ती देख मुनि ने उन्हें प्रकृत एवं विकृत हिंसा और प्रकृत और विकृत अहिंसा का अन्तर समझाया तथा बतलाया कि राजनीति का अन्तिम साध्य प्रकृत अहिंसा ही है। जब राजा ने अपने लिए कर्त्तव्य-मार्ग पूछा तो उन्होंने विकृत अहिंसा को प्रकृत हिंसा से मिटाकर प्रकृत अहिंसा का आश्रय लेने का आदेश दिया। फिर वे तारक के मन में संशय उत्पन्न करने के लिए शोणितपुर में चले गए। राजा ने भी बंदियों को छोड़कर आक्रमण रोक दिया एवं चित्रकूट में कुछ समय विश्राम करने के लिए रुक गए।

: १४ :

भू-मार्ग पार करके नारद ने जलयान द्वारा शोणितपुर की यात्रा प्रारम्भ की। समुद्र के विविध सौन्दर्य का आनन्द लेते हुए वे जब दानवों के द्वीप के निकट पहुँचे तो दूतों ने तारकासुर को उनके आगमन की सूचना दी। तारकासुर ने पर्याप्त सजधज के साथ आगे बढ़कर उनका स्वागत किया। फिर वे नगर का निरीक्षण करने चले गए। वहाँ उन्होंने कामदेव, रति, तारकाक्ष, शान्ता आदि को कारागृह में पड़ा देखा। उन्होंने उन सबको शीघ्र मुक्त होने का आशीर्वाद दिया। दैत्येश्वर समझता था कि नारद उसके नगर की शोभा की प्रशंसा करेंगे, किन्तु उन्होंने स्पष्टतः उसको समझाया कि तुमने शोणितपुर के समस्त सौन्दर्य को पाप-कर्म करके कलुषित कर दिया है, इसलिए मुझे यह नगर अच्छा नहीं लगा। इतना कह कर वे आकाश-मार्ग से इन्द्र लोक को चले गए। वहाँ उन्होंने इन्द्र और इन्द्राणी की दयनीय दशा देखी और दोनों को शीघ्र संकट से मुक्ति का आश्वासन दिया। जब से शारदा पृथ्वी बनकर अलग हो गई थी तब से ब्रह्मा बहुत दुखी रहते थे। वे हर समय नारद के आगमन की प्रतीक्षा करते रहते थे। इन्द्र लोक से विदा होकर नारद उनके पास पहुँचे और तारक के अत्याचारों का ध्यान दिलाकर शीघ्र पृथ्वी की मुक्ति के लिए उनसे प्रार्थना की। उन्होंने ब्रह्मा को पार्वती के तप का भी स्मरण दिलाया तथा शिव पार्वती का विवाह शीघ्र करा देने की अभिलाषा व्यक्त की। फिर वे ब्रह्मा को साथ

लेकर विष्णु के पास पहुंचे और उनसे शिव-पार्वती के विवाह तथा कार्तिकेय के जन्म की आवश्यकता बताकर तारक से त्रिलोक की मुक्ति का मार्ग समझाया।

: १५ :

देवों की प्रेरणा से कामदेव शिव को प्रभावित करने लगा। चारों ओर वसन्त का वातावरण छा गया। समस्त प्रकृति में कामोद्दीपन हो उठा। जब कामदेव ने शिव के हृदय में रति-भावना जाग्रत की तो उनकी समाधि हिल गई। रति इस समय मूर्च्छित पड़ी थी। कामदेव को शिव ने तृतीय नेत्र से भस्म कर दिया, किन्तु फिर रति की प्रार्थना स्वीकार कर उसे नवीन जीवन प्रदान किया। कामदेव ने शिव को प्रसन्न देखकर पार्वती से विवाह करने की प्रार्थना की। जब वे जग के कल्याण के लिए इस प्रस्ताव से सहमत हो गए, तब विष्णु ने नारद को पार्वती एवं हिमाचल के पास विवाह का प्रस्ताव लेकर भेजा। नारद ने जाकर पार्वती को वह शुभ संवाद सुनाया और उन्हें साथ लेकर हिमाचल के पास पहुँचे। मैना ने प्रारम्भ में शिव से पार्वती का विवाह करने में संकोच प्रकट किया किन्तु नारद ने उन्हें समझाकर हिमाचल से लग्न-पत्री भिजवाई दी। शिव ने देवों और भूत प्रेतों की बरात सजाकर पार्वती से विवाह किया और कैलास पर्वत पर चले गए। पार्वती के साथ घूमकर उन्होंने रवि पुत्री यमुना का संकट दूर किया और गंगा से उसका संगम कराया। कुछ काल पश्चात् पार्वती के गर्भ से कार्तिकेय का जन्म हुआ। देवताओं को हर्ष था कि अब तारक मारा जायगा। किन्तु शंकर ने अपने भक्त को मारने से इन्कार कर दिया। उधर तारक ने कामदेव–रति को शरण देने के कारण शिव का कैलास भस्म करने के लिए अपने अनुचर भेजे। इस पर शिव ने क्रुद्ध होकर तारक का वध करने के लिए कार्तिकेय को सजाकर विदा किया।

: १६ :

शृंगी ऋषि कार्तिकेय की प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्होंने आकर ऋषि को अपने रूप में परिवर्तित कर दिया। फिर मयूर-वाहन पर आरूढ़ हो वे दोनों अयोध्या पहुँचे। वहाँ उन्होंने नारद को बुलाकर तारक को समझाने के लिए भेजा। उसने नारद को अपने पास रोक लिया, तो कार्तिकेय समझ गए कि वह उनकी बात नहीं मानता। अतः उन्होंने प्रेम-समर करने के लिए दशरथ को सेना सहित साथ लेकर प्रस्थान किया।

: १७ :

नारद ने तारक के पास जाकर प्रेम-संदेश सुनाया तथा उसकी अनुमति से समस्त प्रजा में प्रेम-क्रांति उत्पन्न कर दी। सेना ने भी युद्ध न करने का

निर्णय किया। प्रेम-क्रांति का यह रूप देख तारक ने पुत्र तारकाक्ष को जो अभी तक कारागृह में पड़ा था, अपना राज्य सौंपने का निर्णय किया। जब अभिषेक की तैयारी होने लगी और कार्तिकेय व मुनि के साथ सब प्रजा प्रसन्नतापूर्वक एकत्र हुई, तब तारकाक्ष पिता तारक से मिलने गए। हृदय परिवर्तित हो जाने के कारण उसकी आँखों में आँसू आ गए। उसने पुत्र के राज्याभिषेक के पश्चात् स्वयं तपस्वी का जीवन व्यतीत करने का निश्चय किया।

: १८ :

तारक को अपने अतीत-कर्मों पर पश्चाताप होने लगा। वह इतना लज्जित था कि तारकाक्ष के राज्याभिषेक के समय अपना मुंह भी नहीं दिखाना चाहता था। नारद उसे लेने आए, तब वह अपनी शीलमयी पत्नी के साथ अभिषेक-सभा में उपस्थित हुआ। षड़ानन ने, जो कभी पत्नी के साथ शृंगी ऋषि जान पड़ते थे और कभी षड़ानन—तारकाक्ष को मुकुट पहनाया। मुनि नारद ने उस समय आशीर्वाद दिया। दानवेश्वर बनते ही तारकाक्ष ने बंदीगृह से सबको मुक्त कर दिया। शान्ता को दर्शन देने शृंगी ऋषि कारागृह के पास गए और वहाँ से एक यान में बैठकर वे अवध की ओर चले। उस समय तारकाक्ष ने उनसे क्षमा-याचना की। दशरथ आदि भी विदा हो गए। नारद ने तारकाक्ष को उपदेश देकर सब नीतियाँ समझाई और फिर वे ब्रह्मा के लोक को चले गए। शान्ता और शृंगी ऋषि अयोध्या में पहुँचे तो प्रजा हर्षित हो उठी। सेना सहित दशरथ भी उसी समय वहाँ जा पहुँचे। शान्ता और शृंगी ऋषि कभी-कभी शारदा और षड़ानन बन जाते थे। समस्त प्रजा-जन एवं परिजन हर्ष में डूबे हुए थे। दशरथ को चिन्ता हुई कि जब शान्ता और शृंगी ऋषि चले जाएंगे तब उनका घर सूना हो जाएगा। यही सोचकर उन्होंने पुत्र-कामना से यज्ञ किया जिसमें भारद्वाज आदि ऋषि भी आए। यज्ञ की संततिकर-हवि को खाकर रानियाँ गर्भिणी हो गईं। समय आने पर राम आदि चार पुत्रों का जन्म हुआ। जब ये पुत्र कुछ मास के हो गए तो शृंगी ऋषि शान्ता के साथ दशरथ से पर्याप्त दायज लेकर विदा हुए। प्रमोद वन में पहुँचने के बाद षड़ानन अपनी माता पार्वती के पास कैलास चले गए। उधर राम के वियोग में दशरथ की मृत्यु हो गई। राम ने रावण को मार कर रामराज्य की स्थापना की।

: १९ :

मधुऋतु में प्रमोद वन सुन्दर हो गया। पति के साथ घूमते समय शान्ता ने इच्छा व्यक्त की कि कोई अवसर निकालकर अयोध्या से राम, लव कुश आदि सबको बुलाया जाय। शृंगी ऋषि ने मधु-उत्सव करने की योजना बनाई।

गरुड़ के द्वारा उन्होंने सबके पास निमंत्रण भेजे। सभी देवताओं ने उसमें भाग लिया। तारक तपस्या-रत था और वह कार्तिकेय का दर्शन चाहता था, अतः वे वहाँ पहुँचे। उसने वरदान मांगा कि मुझे शृंगी ऋषि और माता की पदरज तथा मेरा प्रसाद दोनों मिलें। कार्तिकेय ने उसकी यह इच्छा पूरी की। उसके पश्चात् वे मधु-उत्सव में पहुँचे और वहाँ शृंगी ऋषि के माता-पिता को दर्शन से कृतार्थ किया। फिर सबको अरुण चूर्ण दिया जिससे होली हुई। तत्पश्चात् स्वतः शृंगी ऋषि को तारक से गले मिलने की प्रेरणा हुई। उधर तारक भी उनसे मिलने के लिए बढ़ा। कार्तिकेय ने शृंगी ऋषि को अपना रूप दान किया। अतः सबको दो कार्तिकेय दिखाई देने लगे। तारक शृंगी ऋषि का रूप देखकर कृतकृत्य हो गया। सबने उसका जय-घोष किया। कार्तिकेय उसके हृदय में प्रविष्ट हो गए। वह प्रेम के भार को सम्हाल सकने में असमर्थ हो शृंगी ऋषि और शान्ता के चरणों में सदा के लिए सो गया। सभी लोग तारक की ओर देख रहे थे। अतः अवसर पाकर कार्तिकेय अन्तर्धान हो गए। अचानक भयंकर दृश्य उपस्थित हुआ। एक क्षण में ही मर्त्य लोक विकृत हो गया तथा सभी जड़-चेतन दिव्य रूप धारण किए भगवान शंकर के पीछे जाते हुए दिखाई दिए। अमर लोक नए जागरण और आनन्द से भर गया। ब्रह्मा को शारदा और षड़ानन प्राप्त हुए। तत्पश्चात् कार्तिकेय-शारदा, विष्णु-कमला, काम-रति आदि का शयन-जागरण क्रम चला और अन्त में महाशक्ति को वाम अंग में लीन करके रुद्र ने महाप्रलय की। फिर वे उमाशंकर में परिणत हो गए। यही क्रम सदा चलता है, जिससे संसार को रस मिलता है।

: १० :

गुप्तजी का गीति-काव्य

"गीति काव्य" शब्द अंग्रेजी के लिरिक (Lyric) शब्द का अर्थ लेकर बना है। अंग्रेजी में गीति काव्य (लिरिकल पोइट्री) उस काव्य को कहते है, जो वाद्य-यंत्रों के साथ गाया जाता है या गाया जा सकता है।[1] लिरिक शब्द लायर से बना है, जिसका अर्थ होता है वीणा या बीन। इससे यह तथ्य निकलता है कि आरंभ में वीणा के साथ गाने के लिए लिरिक की रचना होती होगी। किन्तु धीरे धीरे वीणा के स्वरों के साथ गीत की ध्वनि मिलाने के स्थान पर हृदय की वीणा के साथ उसको मिलाया जाने लगा। अतः धीरे धीरे लोक गीत की स्थिति से उठ कर लिरिक गीत काव्य की उस स्थिति पर आया जिसमें आत्मानुभूति व्यंजकता प्रधान थी। किन्तु कवि की गीति काव्यगत यह आत्मानुभूति संसार की अनुभूति से भिन्न नहीं है, क्योंकि हीगेल के अनुसार वह संसार के अन्तःकरण में पहुँच कर आत्मानुभूति प्राप्त करता है। हरबर्ट रीड का भी यही मत है कि गीति काव्य का कवि निश्चय ही संसार की सजगता एवं जागृति से अपने भाव पाता है। अतः गीति काव्य में हृदय-वीणा की मधुर झंकार और आत्मानुभूति के जो तत्व मिलते है वे उसे वैयक्तिक भूमि से सामाजिक भूमि पर पहुँचाते हैं। प्रत्येक गीत में आरंभ से अन्त तक एक ही भाव का निर्वाह, उस निर्वाह में क्रमबद्ध उत्कर्ष हर गीत की स्वतन्त्र सत्ता, कलेवर की संक्षिप्तता, भावनाओं की कोमलता इतिवृतात्मकता का अभाव आदि गीति काव्य की कतिपय अन्य विशेषताएँ कही जा सकती हैं।

भारत में गीति काव्य का प्रारंभ वेदों से ही हो गया था। वैदिक ऋचाओं के समवेत गायन में गीतितत्व की रक्षा का प्रयास निहित मिलता है। वाल्मीकि की रामायण से लौकिक संस्कृति साहित्य की जो परम्परा प्रारंभ हुई, उसमें प्रबन्धात्मकता को प्रधानता मिली। अतः गीति काव्य उपेक्षित रहा। पाली साहित्य में थेर या थेरी गाथाओं की आत्माभिव्यक्ति में यत्र-तत्र गीति तत्व उपलब्ध हो जाता है।

---

1. Lyrical poetry the poetry which can be sung or can be supposed to be sung to the accompaniment of the musical instrument.—Encyclopaedia Britanncia, 14th Volume.

संस्कृत में कालिदास ने मेघदूत में गीति काव्य के भाव तत्व को समाविष्ट किया। जयदेव के गीत गोविन्द में भारतीय गीति काव्य के अन्य विकास-क्रम मिल जाते हैं। हिन्दी में विद्यापति ने प्रथम बार गीतिकाव्य के कई तत्वों को अपने काव्य में स्थान दिया। उनके पश्चात् गीतिकाव्य की प्रवृत्तियाँ कबीर, दादूदयाल, सूरदास, मीरां आदि से होती हुई आधुनिक काल तक आईं। सबसे पहले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने सूर आदि के अनुकरण पर गेय पदों की रचना की। उनके पश्चात् द्विवेदी युग में इति-वृत्तात्मकता को आश्रय मिला, किन्तु इसी युग में गीतिकाव्य को विकास की चरम सीमा पर ले जाने वाले वे कवि भी उत्पन्न हुए जिनमें महाकवि डा० मैथिलीशरण गुप्त का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है।

द्विवेदी युग के पश्चात् छायावादी गीतों की रचना करने वाले कवियों में प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी, रामकुमार वर्मा आदि के नाम आते हैं, जिन्होंने हिन्दी गीतिकाव्य को अधिकांशत. व्यक्ति-परक बनाने का प्रयत्न किया। गीतिकाव्य को इस संकीर्णता से बाहर निकाल कर सामाजिक सांस्कृतिक और राष्ट्रीय स्वरों से नई दिशा देने वाले नवीन, माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्राकुमारी चौहान, गोपालशरण सिंह, रामधारीसिंह दिनकर, शिवमगलसिंह सुमन आदि जो अन्य प्रमुख कवि आगे आए, उनमें मैथिलीशरण गुप्त का सर्वोच्च स्थान है। गुप्त जी ने गीतिकाव्य-धारा को विषय, भाव, भाषा और शिल्प की अभूतपूर्व गरिमा से मण्डित किया। यही कारण है कि उनका गीतिकाव्य हिन्दी साहित्य की अत्यन्त गौरवपूर्ण निधि कहा जा सकता है।

गुप्त जी ने द्विवेदी युग से काव्य-रचना प्रारंभ की थी और नयी कविता के युग मे उनकी लेखनी ने विश्राम लिया। अत; एक अर्द्ध शताब्दी के दीर्घ पटल पर उनकी काव्य साधना का प्रसार हुआ है। इस काल में हिन्दी-काव्य में अनेक प्रवृतियाँ आईं और गईं। गुप्तजी ने उन सब को अपनी प्रतिभा से प्रभावित किया। सब पर अपने व्यक्तित्व की छाप लगाई। यही कारण है कि गीतिकाव्य की शैली में भी उन्होंने जो काव्य लिखे है, उनमें यत्र-तत्र बिखरी हुई उसकी सभी प्रवृतियाँ मिल जाती हैं। यहीं तक नहीं, पूर्वज कवियों की परम्पराओं का भी उन्होंने अपने गीति-काव्य में सन्निवेश किया है।

विषय की दृष्टि से गुप्त जी का गीतिकाव्य पर्याप्त विस्तृत क्षेत्र को घेरता है। आत्मा, परमात्मा, राष्ट्र, विश्व, प्रकृति, तथा समाज सुधार आदि के विभिन्न विषयों पर उन्होंने सफल गीतों की रचना की है। मानव-जीवन के विभिन्न मार्मिक प्रसंगों तक जहाँ जहाँ गुप्त जी की दृष्टि गई है, वहीं उनकी कविता गीतोन्मुखी हो उठी है। झंकार, वक संहार, साकेत, यशोधरा, कुणालगीत, विष्णुप्रिया आदि कई

पुस्तकों में उनके गीत-काव्य को स्थान मिला है। ये सभी ग्रन्थ विषय की दृष्टि से पर्याप्त अन्तर रखते हैं। महादेवी वर्मा के सभी गीतिकाव्यों में जिस प्रकार केवल आत्मा परमात्मा की प्रणयानुभूति का चित्रण प्रधान विषय बना है, उस प्रकार की विषय संकीर्णता गुप्त जी के गीतिकाव्य में नहीं है। झंकार में उनके आध्यात्मिक गीत संकलित है। यह काव्य उन्होंने छायावादी प्रवृतियों से प्रभावित होकर लिखा था, किन्तु फिर भी विषय की अपनी विशेषता की इसमें उन्होंने स्थापना की है। इस काव्य के अधिकांश गीतों का विषय ईश्वर भक्ति है, न कि किसी रहस्यात्मक सत्ता की साधना अथवा प्रकृति में चेतना का आरोप करके मात्र कल्पना विलास। रहस्य-वाद नीति आदि विषयों की प्रधानता जिन कतिपय गीतों में अभिव्यक्ति हुई है उन पर भी गुप्त जी ने अपनी मौलिकता की छाप लगा दी है। साकेत में प्रबन्धात्मकता होते हुए भी नवम सर्ग में उन्होंने उर्मिला के आँसुओं को गीतों के माध्यम से ही चित्रित किया है और उन आँसुओं में मात्र रोदन नहीं है, नारी जीवन की समस्त गरिमा वर्णन का विषय बन गई है। यही बात यशोधरा और विष्णुप्रिया काव्यों में हुई है। कथा का निर्वाह करते हुए भी गुप्त जी ने इन काव्यों में नारी और पुरुष के जीवन के विभिन्न पक्षों को गीतों का विषय बना दिया है। वक संहार, में कुन्ती के मातृत्व को चित्रित करके नारी के एक अन्य पक्ष को उभारा गया है। कुणाल-गीत, जिसमें पूर्वापर सम्बन्ध का भी विषय की दृष्टि से पूर्ण निर्वाह है, कुणाल के माध्यम से कवि की जीवन और जगत के प्रति आस्था को प्रस्तुत करता है।

भाव की दृष्टि से भी गुप्त जी का गीतिकाव्य कम महत्वपूर्ण नहीं है। उन्होंने आत्मानुभूति की सघन संवेदना को विभिन्न पात्रों के माध्यम से इस प्रकार एक विराट परिवेश में चित्रित किया है कि सहज में ही मानव हृदय अपने समग्र विस्तार के साथ पाठक के सामने आ जाता है। कुछ उदाहरण देखिए :—

यशोधरा को सुप्तावस्था में छोड़कर सिद्धार्थ चले गए हैं। पति-परायण भारतीय नारी के हृदय की इस परिस्थिति में जो दशा होती है, उसका एक चित्र निम्नांकित पंक्तियों में द्रष्टव्य है। प्रियतम की याद में गलती हुई वह कहती है :—

> मिला न हा इतना भी योग।
> मैं हंस लेती तुझे वियोग
> देती उन्हें विदा मैं गा कर
> भार झेलती गौरव पाकर।
> यह निश्वास न उठता हा कर
> बनता मेरा राग न रोग।
> मिला न हा इतना भी योग।

जब उसकी पीड़ा बाह्य उद्दीपनों का सम्पर्क पाती है, तब उसमें जीना दूभर हो जाता है। अपनी वेदना को सम्हालने में असमर्थ हो वह पुकार उठती है :—

कूक उठी है कोयल काली,
ओ मेरे वन माली।
चक्कर काट रही है रह रह, सुरभि मुग्ध मतवाली
अम्बर ने गहरी छानी यह भूपर दुगुनी ढाली।
ओ मेरे वन माली।

नारी हृदय की वेदना को ही नहीं ओज को भी गुप्त जी ने अपने गीतिकाव्य मे पर्याप्त मार्मिकता के साथ चित्रित किया है। वक संहार में कुन्ती के ओज-पूर्ण हृदय का एक चित्र है :—

तो एक यह भी कार्य है
यह भी उन्हें अनिवार्य है
आशीष दो करलें इसे भी सिद्ध वे।
या तो असुर को मार कर
हों धन्य पुर-उपकार कर
या कीर्ति लेकर सूर्य-मण्डल विद्ध वे।

(पृष्ठ ३१)

हृदय की निश्छल अभिव्यक्ति करने वाले अनेक उदाहरण गुप्त जी के गीति-काव्य में मिल जाते है। झंकार के एक गीत की कुछ पंक्तियाँ देखिए :—

बहु कल कण्ठ खगों के आश्रय
पोषक या प्रतिपाल प्रणाम।
भव भूतल को भेद गगन में
उठने वाले शाल प्रणाम।
खींच रसातल से भी रस को
गहने वाले तुम्हें प्रणाम
सब कुछ करके भी न कभी कुछ
कहने वाले तुम्हें प्रणाम।

(पृष्ठ ३०, ३२)

इन पंक्तियों में कवि ने प्रकृति और हृदय को एक भाव भूमि पर प्रस्तुत कर सौन्दर्य की अनुभूति दी है।

भाव की अभिव्यक्ति का यही अर्थ नहीं है कि कवि उसमें डूबा ही रहे, बाहर उसका विस्तार न करे या ग्रहण की भूमि पर ही खड़ा रहे, उत्सर्ग का ओज न जगाए। गुप्त जी के गीति काव्य का भाव-क्षेत्र इस दृष्टि से भी बहुत विस्तृत है। उन्होंने मानव-हृदय की समस्त विभूति को अपने गीतों में साकार किया है। साकेत के निम्नांकित उद्धरण में उर्मिला नारी होते हुए भी उत्सर्ग की अत्यन्त उदात्त भाव—भूमि पर खड़ी दिखाई देती है :—

अब जो प्रिय तम को पाऊँ।
तो इच्छा है उन चरणों की रज मैं आप रमाऊँ॥
आप अवधि बन सकूं कहीं तो क्या कुछ देर लगाऊँ।
मैं अपने को आप मिटा कर जाकर उनको लाऊँ॥
(पृष्ठ २३५, साकेत)

भावों के चित्रण में कवि ने मनोवैज्ञानिक स्थितियों को प्रकृति और वातावरण के संदर्भ में अत्यन्त स्वाभाविक रूप में अवतरित किया है। विष्णुप्रिया काव्य में एक गीत विष्णुप्रिया की मनः स्थिति को इस प्रकार प्रस्तुत करता है :—

आ गया मेरा अँधेरा वाम।
दीख पड़ते हैं मुझे निज गौर भी अब श्याम।
छल गया है निकल कर द्रुतदिन मुझे
जल न पाई वत्तियाँ दीपक बुझे।
सहज श्वास समीर भी अब बन रहा है वाम॥

भावों की अभिव्यंजना में जिस प्रकार गुप्तजी ने अपने गीति काव्य में व्यापक दृष्टिकोण अपनाया है, उसी प्रकार उन्होंने अन्तर्वाह्य प्रकृति का भी पर्याप्त व्यापक दृष्टि से चित्रण किया है। उनके जिन गीतों का प्रकृति-चित्रण से सम्बन्ध है, उनमें प्रकृति के विभिन्न दृश्यों के मनोरम वर्णन मात्र तक उनकी दृष्टि सीमित नहीं है, अपितु मानव-हृदय के विभिन्न रूपों से सर्वत्र उनका सम्बन्ध जोड़ा गया है। यही कारण है कि गुप्तजी के गीति काव्य में प्रकृति छायावादी चेतना से अनुप्राणित न होकर भी सजीव और प्रेरक है। उसमें मनुष्य के दुःख-सुख में साथ देने की अद्भुत क्षमता है। एक उदाहरण देखिए। यशोधरा कहती है :—

जागी किसकी वाष्प-राशि
जो सूने में सोती थी ।
किसकी स्मृति के बीज उगे ये
सृष्टि जिन्हें बोती थी ?
अरी वृष्टि ऐसी ही उनकी
दया-दृष्टि होती थी ।
किसके भरे हृदय की धारा शतधा होकर आज बही ?
मैंने ही क्या सहा, सभी ने मेरी बाधा व्यथा सही ।

गुप्तजी के गीतिकाव्य का भाव-पक्ष प्रकृति के सम्पर्क से जितना सुन्दर बना है, उतना ही विचारों के समावेश से भी उत्कर्ष को प्राप्त हुआ है। भावुकता का आश्रय उन्होंने उसी सीमा तक लिया है, जहां तक वे उसे विचारों का वाहक भी बनाए रख सके हैं। विचार की भूमि पर उनका भाव अपने लिए किस प्रकार पोषक तत्व खोजता है, इसका एक उदाहरण देखिए :—

व्यथा वरण करके रोना क्या ?
अपना धीरज-धन अपने ही हाथों से खोना क्या ?
क्लेश नाम से ही कर्कश है
किन्तु सहन तो अपने वश है
भीतर रस रहते बाहर के विषय के वश होना क्या ?
व्यथा वरण करके रोना क्या ?
(कुणाल-गीत, पृष्ठ ५६)

विषय, भाव, प्रकृति, विचार आदि की विभिन्न भूमियों पर गुप्तजी का गीति काव्य जितना उत्कृष्ट सिद्ध होता है, उतना ही उत्कृष्ट उसका कला पक्ष भी है। उन्होंने गीत-रचना के लिए परम्परागत छंद, लय, आदि का सहारा एक सीमा तक ही लिया है तथा विषय के अनुसार अनेक नए नए प्रयोग भी किए है। यशोधरा, साकेत और विष्णुप्रिया में उनकी गीत शैली छोटे छोटे छंदों को नए नए गेय आकार प्रदान करती चलती है। उन छंदों में गीत की शब्द गत लय ही उन्होने उत्पन्न नहां की है, अपितु अधिकांश स्थलों पर वे उसमें अर्थ लय उत्पन्न करने में भी समर्थ हुए है। नूतन प्रयोग की दृष्टि से दो से अधिक छन्दों का मिश्रण करके बनाया गया उनका निम्नांकित गीत देखिए :—

हर हर हर बम भोला।

थर थर थर तेरा आसन भी कह विजयी क्यों डोला ?

तुच्छ एक अणु ही था मैं तो तूने ही विच्छिन्न किया।

भेद भेद कर पाप बुद्धि से मुझे मुझी से भिन्न किया।

रहूँ क्यों न कितना ही क्षुद्र

मुझ में भी है मेरा रूद्र।

कुशल नहीं तेरा भी अब तो फैला फूट फफोला।

हर हर हर बम भोला।

अलंकारों का प्रयोग करके गुप्तजी ने अपने गीतिकाव्य के कला-पक्ष को रीति-कालीन वैभव प्रदान किया है। साकेत के एक गीत की कुछ आलंकारिक पक्तियां देखिए :—

निरख सखी, ये खंजन आए।
फेरे उन मेरे रंजन ने नयन इधर मन भाए।
फैला उनके तन का आतप मन ने सर सरसाए,
घूमे वे इस ओर वहाँ ये हंस यहाँ उड़ आए।

(साकेत पृष्ठ २१६)

गुप्त जी के गीतिकाव्य में इस प्रकार के प्रभावशाली आलंकारिक प्रयोगों की संख्या बहुत अधिक है। उन्होंने उपमा, उत्प्रेक्षा, साँगरूपक, दृष्टांत, यमक, श्लेप अनुप्रास, आदि कतिपय प्रमुख अलंकारों का नए उपमान एवं नई शब्दावली के साथ प्रयोग किया है।

गुप्तजी के गीति काव्य की भाषा उनके वर्णनात्मक काव्य की तुलना में तो पर्याप्त समृद्ध और सशक्त है ही, अन्य गीतकारों के गीतों की भाषा की तुलना में भी उसका महत्व कम नहीं है। उन्होंने अत्यन्त सहज कोमलकान्त शब्दावली का चयन करके गीतों के स्वाभाविक प्रवाह तथा भावों के निर्वाह की रक्षा की है।

संगीत-तत्व भी गीति-काव्य की सफलता का एक निर्णायक तत्व है। हम पीछे के उदाहरणों में देख चुके हैं कि उनमें जहाँ गीतिकाव्य की अन्य विशेपताओं का गुप्त जी ने सफलता से निर्वाह किया है, वहाँ उन्होंने संगीतात्मकता की भी उपेक्षा नहीं की। उन्होंने भावों के साथ शब्दों की केवल तुक ही नहीं मिलाई है, अपितु लय, सुर और ताल का भी पूर्ण निर्वाह किया है।

अन्त में हम कह सकते हैं कि गुप्त जी का गीतिकाव्य जीवन के विस्तृत परिवेश को चित्रित करता हुआ मानव-हृदय और प्रकृति के उदात्त रूपों की अभिव्यक्ति अत्यन्त सशक्त कलात्मकता के साथ कर सका है। उसमें जीवन को अभिव्यक्ति देने की पूर्ण क्षमता है तथा मानव-हृदय के रागात्मक बोध को उसने आकर्षक स्वर दिया है। हिन्दी-गीतिकाव्य के इतिहास में गुप्त जी का गीतिकाव्य अपनी इन विशेषताओं के कारण सदैव शाश्वत साहित्य के रूप में प्रतिष्ठित रहेगा।

: ११ :

अज्ञेय का काव्य-शिल्प

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' को हिन्दी-जगत् एक कथाकार से कवि के रूप में अधिक जानता है। निश्चय ही इन दोनों रूपों में से वे कवि के रूप में अधिक महत्व रखते हैं। स्वाधीनता-संग्राम के समय उनकी वाणी ने कविता के माध्यम से राष्ट्र को नव-जागरण का संदेश दिया था। कारागृह में रहकर जिन कवियों ने अपनी स्वर से पराधीनता की निद्रा का प्रमाद नष्ट करने के लिए आकाश को गुञ्जित किया, उनमें अज्ञेय प्रमुख हैं। उनका यह उपनाम भी कारागृह में लिखी हुई कविताओं के प्रकाशन में सहायक बना। जहाँ भी उनका काव्य-स्वर पहुँचा, वहीं मानवता ने नई करवट ली। शोषण, उत्पीड़न और सामाजिक अन्यायों के विरुद्ध समस्त शोषक-जगत् ने उनकी सिंह-गर्जना सुनी :—

सुनो तुम्हें ललकार रहा हूँ,
सुनो घृणा का गान !

घृणा का गान क्यों? क्योंकि 'तुम उस अछूत से अपनी छाँह चुराकर भागे!' निश्चय ही एक ओर तो अज्ञेय की घृणा ने समाज के अन्याय को पहचाना था और दूसरी ओर व्यक्ति की पीड़ाओं को भी समझने की चेष्टा की थी। उस चेष्टा ने—व्यक्ति-पीड़ा की उस सहज अनुभूति ने—अज्ञेय को ऐसे काव्य-सृजन की दिशा खोजने के लिए प्रेरित किया, जिससे मनुष्य को सामाजिक न्याय मिल सके। अतः उन्होंने प्रयोगवाद और नयी कविता के रूप में काव्य-शिल्प के वे आयाम प्रस्तुत किए, जिनमें व्यक्ति को उसकी पूर्ण इकाई के रूप में समझा जा सके। वस्तुतः अज्ञेय से पूर्व का समस्त हिन्दी-काव्य ईश्वर, राजा या समाज को समर्पित था, अज्ञेय ने अपने काव्य को उस समर्पण से बचाकर व्यक्ति के समस्त 'विराट्' और 'महत्' को उद्घाटित करने की दिशा में नियोजित किया। उनका आरम्भिक राष्ट्रीय काव्य इस नियोजन की ही पूर्व भूमिका है—उनके काव्य-शिल्प की आधार रेखा। यही रेखा उनकी आगे की उस वाणी में रंग पाने लगी, जब उन्होंने लिखा :—

अच्छी कुण्ठा रहित इकाई,
भेदों--भरे समाज से।

अच्छा अपना ठाट फकीरी,

मंगनी के सुख साज से ॥

इस अभिव्यक्ति के साथ उनके काव्य शिल्प का जो रूप विकसित हुआ, उसने भारती को नए युग-बोध से समन्वित किया और व्यक्ति-चेतना का वह आन्दोलन नए साहित्य में उठा, जिससे आज के अधिकांश कवि प्रभावित हैं। पाठक ही नहीं आलोचक भी अब यह स्वीकार करते हैं कि अज्ञेय की हिन्दी-साहित्य को सबसे बड़ी देन उनका वह काव्य-शिल्प है, जिसके स्पर्श से हर विषय व्यक्ति बोध और नव चेतना से अनुप्राणित हो उठता है। जीवन की जिन राहों पर सभी चलते हैं, उन राहों की अनदेखी और अनकही बातों को वाणी देना अज्ञेय के काव्य-शिल्प की सीमा है। उन्होंने नए परिप्रेक्ष्य में काव्य-बोध को प्रस्तुत कर व्यक्ति के महान् और क्षुद्र-दोनों ही आकारों को उभारा है। अनुभूतियों को नए रूप में प्रस्तुत करके ही उनके काव्य-शिल्प की सामर्थ्य नही चुक गई, अपितु अनुभवों के लिए नए अनजान क्षेत्र भी उसने खोले हैं। सौन्दर्य-बोध के उन धरातलों को उनके काव्य-शिल्प के जादू ने चमकाया है, जो अब तक अंधेरे से आच्छादित थे। परम्परागत विकृत मूल्यों का परिष्कार और जीवन-सत्य की नई परिधियो का अन्वेषण उनके काव्य-शिल्प का साध्य बना है।

व्यक्ति-निष्ठा में उनका कवि अपने शिल्प की समस्त साधना किस प्रकार अर्पित करता है, इसके कुछ उदाहरण भी यहां देख लिए जायं। वे पुराने अर्थों में व्यक्ति का पक्ष नहीं लेते, उसे नए जीवन के समग्र विस्तार से जोड़ना चाहते हैं। उनको ऐसा व्यक्तित्व विकसित नहीं करना जो अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए समाज से कटकर जीवन के सुखों को एकांकी भोगना चाहे और अपने ही अह में अमर होना चाहे। जीवन और मृत्यु के मध्य वे गति को अपनी सहज काव्य-भाषा में स्थापित करना चाहते हैं। नदी के द्वीप के लिए नदी शाप है, उसकी नियति है, किन्तु वह उसी से जनमा है और उसी से हर बार गति पाकर नए रूपाकार गढ़ सकते हैं—इस रहस्य से अज्ञेय जी अपरिचित नहीं रह पाते :—

द्वीप हैं हम

यह नदी है शाप

यह अपनी नियति है

हम नदी के पुत्र हैं। बैठे नदी के मोड़ में

वह वृहद् भूखण्ड से हमको मिलाती है

× × ×

तुम बढ़ो, प्लावन तुम्हारा थरथराता उठे
घोर काल प्रवाहिनी बन जाय।
तो हमें स्वीकार है वह भी।
उसी में रेत होकर फिर छनेंगे हम।
जाएंगे हम कहीं फिर पैर टेकेंगे।
कहीं फिर खड़ा होगा नए व्यक्तित्व का आकार।

इनपंक्तियों में अज्ञेय के काव्य-शिल्प ने व्यक्ति के अस्तित्व को समाज के मध्य नई आस्था देकर खड़ा किया है। वह व्यक्ति अपनी नियति से अपने पुरुषार्थ के बल पर जूझ सकता है, अगर समाज गति-हीन होकर सड़ने न लग जाए। काव्य-शिल्प का यह नया प्रयोग अज्ञेय की व्यक्ति-चेतना के नए तोरण खोलता हुआ आगे बढ़ता है। उनकी 'बावरा अहेरी', 'अरी ओ करुणा प्रभामय', हरी घास पर क्षण भर', "इन्द्रधनु रौंदे हुए ये" तथा "आंगन के पार द्वार" कृतियों में हमें उनके नए-नए चरण-चिह्न सर्वत्र मिलते हैं। समस्त नई कविता को उसने नए दिशा-क्षेत्र दिए हैं।

अज्ञेय ने व्यक्ति को समूह में पहचानने वाली प्रतिभा से भी काम लिया है। उन्होंने उसे भीड़ में भी निडर होकर उतना ही नंगा कर दिया है, जितना नंगा वे उसे एकाकी व्यक्ति में कर सकते थे। ऐसा किए बिना उनके काव्य-शिल्प की सफलता संदिग्ध रह जाती, वह अतीत-परम्परा से उसे जोड़कर न देख पाती। अतः वे अवसर पाते ही भीड़ के पीछे दौड़े हैं और शरीर के भीतर-बाहर झांकने वाले आदमी का चित्र उतार लाए हैं। ऐसा करने में उनके काव्य-शिल्प का कमाल यह रहा है कि एक समय का व्यक्ति ही पूरे युग का व्यक्तित्व बनकर स्वतः अंकित हो उठा है। ये पंक्तियाँ प्रमाण है :—

मंदिर के भीतर वे सब धुले-पुंछे
उघड़े-अवलिप्त
खुले गले से
मुखर स्वरों में
अति-प्रगल्भ
गाते जाते थे राम-नाम।
भीतर सब गूंगे-बहरे, अर्थ-हीन, जल्पक,

निर्बोध, अयानें, नाटे,

पर बाहर जितने बच्चे उतने ही बड़बोले,

और आगे लिखा है :—

बाहर वह

खोया पाया, मैला-उजला

दिन दिन होता जाता वयस्क,

दिन दिन धुँधलाती आँखों से

सुस्पष्ट देखता जाता था;

पहचान रहा था रूप

पा रहा वाणी और बूझता शब्द

पर दिन-दिन अधिकाधिक हकलाता था

दिन-दिन पर उसकी घिग्घी बँधती जाती थी।

(आँगन के पार द्वार, पृष्ठ ११)

यह चित्र किसी सामान्य व्यक्ति का नहीं, सरस्वती-पुत्र का व्यक्तित्व इसमें मुखर है। अज्ञेय ने किस सावधानी से उसे रंगा है, यह समझ में आते ही पाठक को उनके काव्य-शिल्प की सहज क्षमता पर गर्व हो उठता है। उन्होंने अपने काव्य में शिल्प-क्षमता को केवल विषय के प्रयोगों तक ही सीमित नहीं कर लिया, उसे भाषा के नए-नए प्रयोगों की दिशाएँ भी दी हैं। जिस प्रकार विषय-विस्तार करते समय उनकी काव्य-प्रतिभा परम्परा की भूमि से उठती हुई उससे असम्पृक्त रह कर नए धरातलों का निर्माण करती रही है उसी प्रकार उनकी भाषा भी परम्परा से उत्पन्न होकर नए प्रयोग करती हुई आगे बढ़ी है। छंद की सीमा और अलंकारों का विस्तार नए रूपों में उनकी काव्य-भाषा के साथ चला है। उदाहरणार्थ, छंद के अतीत से किस प्रकार "आँगन के पार द्वार" (पृष्ठ ३६) की ये पंक्तियाँ जुड़ी हुई हैं—

वासना को बाँधने को

तूमड़ी जो स्वर-तार बिछाती है—

आह! उसी में कैसी एकान्त निविड़

वासना थरथराती है।

तभी तो साँप की कुंडली हिलती नहीं

फन डोलता है।

'बिछाती है' के साथ 'थरथराती है' की तुक यदि न मिलाई जाती तो निश्चय ही अन्तिम दो पंक्तियों का वह व्यंग्य प्रभावशाली न होता, न वह बिम्ब ही उभरता, जो अज्ञेय के काव्य-शिल्प को नई विशेषताओं से जोड़ रहा है। उन्होंने भाषा को एक साथ व्यंग्य, बिम्ब और नव बोध से जोड़ने वाले ऐसे अनेक सफल चित्र अपनी कृतियों में उस शब्द-विधान के बल पर ही प्रस्तुत किए हैं, जिसमें काव्य-शिल्प के नए-नए प्रयोगों की अपूर्व क्षमता है।

विचार की दृष्टि से अज्ञेय का काव्य-शिल्प अध्यात्म और विज्ञान के दुरंगे परिधान में चला है। उनका अध्यात्म आस्था और विश्वास जगाता है और विज्ञान अनागत के द्वार खोलता है। विषयाभिव्यक्ति और भाषा पर उनके शिल्प का यह दुरंगा आवरण कहीं-कहीं इतना गहरा पड़ गया है कि उसने एक नए रहस्यवाद का रूप ले लिया है। तथापि, इसमें संदेह नहीं कि उनकी विचार-धारा काव्य-भूमि के किसी एक स्तर से बँधी नहीं, उसने निरन्तर नए स्तरों का अन्वेषण किया है। यही कारण है कि अज्ञेय का काव्य-शिल्प जीवन के चिरन्तन स्वरूप का चित्रण करने में सर्वत्र सफलता पाता रहा है। उसने उन्हें व्यक्ति-दर्शी दृष्टि से लेकर विराट और महाशून्य की अखण्ड चेतना तक पहुँचा दिया है।

: १२ :

गणतंत्र-काव्य की आकाश-धारा

गणतन्त्र दिवस ....

२६ जनवरी—काराओं में सड़-सड़ कर, घुट-घुट कर, मातृ-भूमि को स्वतंत्र देखने की अभिलाषा लिए शहीद हो जाने वाले मतवालों का श्राद्ध दिवस।

२६ जनवरी—फांसी के तख्तों पर हंस-हंस कर मातृ-भूमि की मुक्ति के लिए बलि हो जाने वाले अमर वीरों की विधवाओं के गर्म-गर्म आंसूओं की त्रिवेणी का तीर्थ-पर्व !

२६ जनवरी–दुधमुंहे अनाथ शिशुओं की माता-पिता को खोजतीं-भटकतीं दर्द से कसकतीं आंखों की मूक प्रार्थनाओं की सिद्धि का काल-पीठ।

जिसने भारत की कोटि-कोटि जनता को गणतंत्र का प्रभात दिया। जिसने शताब्दियों पीछे घिसटने वाली भारतीय जिजीविषा को नया आलोक दिया।

वही २६ जनवरी ......गणतंत्र-दिवस

आज फिर हमारे सामने प्रश्न-चिन्ह बनकर खड़ा है। वह आज फिर हमारी समस्त प्राणशक्ति, सहनशक्ति और जिजीविषा का मर्म खोजता हुआ हमारी मनीषा के द्वार पर आकर हमारी चेतना को झकझोर रहा है।

वह पूछ रहा है, हम सब बुद्धि-धरों से गत स्वाधीन वर्षों का लेखा-जोखा। हम से, जो इस आसेतु-हिमाचल भारत को अपनी मातृ-भूमि मानते हैं......जो यहाँ के मन्दिर मस्जिद-गुरुद्वारों से ममत्व रखते हैं......जिन्हें गांधी और नेहरू से बिछुड़ने का शोक है।

वह पूछ रहा है—हम सोचने समझने और अनुभव करने वालों ने उसे अभीष्ट गरिमा देने के लिए क्या किया ? हम कहते थे हमसे पहले का बुद्धिधर चारण था—सामंती घेरे में बंद। वह संत था—जीवन के सुख-दुख की सीमाओं से बाहर। वह दरबारी था—विलास की सामग्री के आकर्षण में उलझा हुआ। किन्तु, हम ? हम तो न चारण हैं, न संत, न दरबारी ! फिर ऐसा क्या जादू हो गया है कि हमारी आँखें वह भी न देख पातीं, जो हमारे सामने है—भविष्य की बात छोड़िए। हमारे हृदय और मस्तिष्क की चेतना कहाँ चली गई है, जो हमें अपने जीवन का अमृत-बोध प्रदान करती ?....२६ जनवरी का यह पवित्र दिवस हमसे पूछ रहा है।

पूछ इसलिए रहा है, क्योंकि उसे हमारी वाणी पर संदेह है—हमारी कल्पना पर संदेह है—हमारी अनुभूति की सचाई पर संदेह है।

वह जानता है—किसी भी देश के युग-बोध का वैतालिक उसका कवि होता है। जब कवि की चेतना पर अन्धकार के आवरण चढ़ जाते है, तब पुरानी से पुरानी ज्योति को अक्षुण्ण रखना असभव हो जाता है।

उसे आज के भारतीय कवि से यही भय हो रहा है। कल आते-आते ६५ मे प्रवेश करते-करते उसने इस भय का अनुभव किया है।

दिल्ली, जहाँ उसका कुछ वर्ष पूर्व जन्म हुआ था—एक रात फिर भारत की विभिन्न भाषाओं की कवि-वाणी को आकाशवाणी बनाती हुई एक बार फिर दीप-सज्जा के लिए उत्साहित हुई।

किन्तु आकाशवाणी अब भी २६ जनवरी के आकाश मे गूँज रही है। शहीदों का स्मारक यह दिवस अनुभव कर रहा है कि उसकी ध्वनियों मे बहुत कम अंश ऐसा है जो अपने युग-बोध का संवाहक है। आज का भारत भीतरी और बाहरी अनेक समस्याओं में उलझा हुआ आगे बढ़ना चाहता है। लगता है, वह आगे बढ़ रहा है, किन्तु मँहगाई, भ्रष्टाचार, कर्त्तव्य-हीनता, आपा-धापी आदि की गहरी घाटियाँ उसकी राह को नीचे की ओर लिए चली जा रही है। और हम है कि पुरानी दृष्टि को पुराने तरीके से ही सँजोए चलना चाहते है।

देशभर के कवियों की जो आकाशवाणी २६ जनवरी के स्वागत मे मँहगाई से छटपटाते और सीमाओं पर शत्रुओं से घिरे भारत ने सुनी उसमे उसकी जिजीविषा के लिए खोजने पर भी संबल दिखाई न दिया। कवि-सम्मेलन का आरभ हुआ पत द्वारा किए गए माघ के इस भाग्यवादी अनुवाद से—

> सूर्य भी भाग्य-वश
> सहस्त्र-कर होकर भी
> गिर जाता है।

अंधकार से पराजित होने का घोर अनास्थावादी यह स्वर। भले ही उसकी पृष्ठभूमि कुछ भी हो।

और उसके पश्चात् असमिया कविता का अनुवाद सुनाया गिरजाकुमार माथुर ने किन्तु वे चाँद को गलाकर भी अंधेरे को न जला सके। उसके पश्चात् भारत भूषण अग्रवाल ने एक अनुवाद पढ़ा—रामराज्य के स्वप्न की पुनरावृत्ति। इतने वर्षो के पश्चात् भी हम राम-राज्य के लिए तड़प रहे हैं। उन्होंने कहा—

> ईर्ष्या द्वेष दम्भ करते है
> आज पलायन।

राम-राज्य की वही पुरानी दृष्टि, जिसमें वर्तमान युग-बोध के लिए किसी भी ओर से गुंजाइश नहीं। उन्होंने नितान्त खोखले और अर्थ-हीन शब्दों में राष्ट्र का आह्वान किया—

आओ नए मंत्र की लेवें
मिलकर दीक्षा।
देश प्रगति के आयोजन की
मिलकर करें समीक्षा।

पता नहीं उस नए मंत्र की दीक्षा कब पूरी होगी और कब हमें समीक्षा से अवकाश मिलेगा। हां इतना अवश्य था कि उनके द्वारा पढ़े गए अनुवाद में देश की भौगोलिक सीमाओं की रक्षा की अभिलाषा कहीं-कहीं मुखर हो उठी थी।

सीमा के उस पार खड़ा अरि जो करता तैयारी
होगी उसकी ख्वारी।

और वे आशा कर रहे थे—

कल अमृत बरसेगा झर झर!

संभव है, भीतर के अरियों के घात लगाते रहने पर भी—बाहर के अरियों का भय समाप्त होने पर कभी अमृत बरसे!

पर अभी तो साहिर लुधियानवी को यही चिन्ता है कि देश वालों को समझाया जाय कि भूख से तड़प-तड़प कर जिस्म मरते हैं, इन्सान नहीं मरते। उन्होंने गीता के शब्दों का अनुवाद करके बार-बार अपनी उर्दू और अजित कुमार की हिन्दी में यही दुहराया—

जिस्म की मौत कोई मौत नहीं होती है!

साहिर साहब! हम भी कल से फिर गीता का पाठ आरम्भ करेंगे, क्योंकि कुरुक्षेत्र में भले ही हमारा जिस्म न मरे, पर कर्म-क्षेत्र में तो भूख उसे खाए जा रही है। आप विश्वास रखिए, हम अपने पड़ोसी का भी यही सिखाएँगें कि इंसान बनना है, तो जिस्म के मरने की चिन्ता मत करो। और, उसे यह भी बता देंगे कि अपनी रोटी दूसरों के आगे फेंक कर—

जो जिलाता है दूसरों को
अमृत पीता है।

अजितकुमार जी, भक्ति काल तक के हिन्दी कवियों ने ऐसा ही बहुत कुछ कहा है, आप उसका भी अपनी सरल हिन्दी में अनुवाद कर डालिए। फिर देखिए कि कौन परवाह करता है जिस्म की मौत की!

और हाँ, आपके साथ कन्नड़ कविता का अनुवाद करते हुए नरेन्द्र शर्मा भी तो अतीत के सपने ही देख रहे हैं —

तारांकित शिखर

वह हिमाद्रि जिससे सरिताएँ निःसृत

दुग्ध धवल-हास-वास

चिर नवीन पुराचीन

वे तो यह भी कहते हैं--

याद करो

भारत की जय बोलो

हाँ भाई, अब पुरानी धवलता को याद करने से ही भारत की जय होगी-- आज की तो कालिमा भी मँहगी पड़ेगी। नरेन्द्र जी, कोयला भी रुपये का तीन किलो मिलता है। भला आप पुराचीन का अनुवाद न करते तो उसकी धवलता की तुलना वर्तमान युग-बोध से कैसे होती ? आप ठीक कहते हैं :—

सौंप हमें शत प्रभात

अन्तिम विश्राम लिया।

और आपकी यह बात भी सचमुच विचारणीय है —

क्या होगा यदि हमने

आलस का नाम लिया।

पर आप न जानें यह अनुवाद कैसे कर गए कि --

पोंछो निज अश्रु

भावी के स्वप्नों की दीक्षा लो।

अरे हाँ. आपने ठीक कहा, हम अब व्यतीत कल के लिए क्यों रोएँ, नेहरू और गांधी को क्यों याद करें, अभी तो बीते हुए कल की तरह ही भावी कल के स्वप्न शेष है। तो अभी हमें उन स्वप्नों की भी दीक्षा ही लेनी है। पर नरेन्द्र जी, आपका हम-स्वर यह कश्मीरी कवि तो गोपालकृष्ण कौल की आकाशवाणी में यों कह रहा है --

× × प्रिया मेरी नूर से भरपूर,

× × इसलिए नूरा कहा करता उसे मैं !

× × और उस पर चाँदनी की पर्त

जैसे हो मलाई !

कौल साहब, आजकल तो दूध पर भी दूध की नदियों के इस देश में मलाई नहीं पड़ती । पर हाँ, आप तो आकाश की बातें कर रहे थे —

× × नूर से भरपूर गुलगूं कपोल

× × या गगन में उड़ा जाते दो कबूतर ।

क्या बात कही है परियों के देश के कवि ने । मलाई खिलाते-खिलाते उसने कैसे कबूतर उड़ाए हैं । और ठीक भी था २६ जनवरी की खुशी में ऐसा करना । पर भाई, आगे यह क्या कह गए --

× × या अँगीठी मे दहकते अंगार की लाली

× × या कि लैला के लिए ज्यों लहू मजनू का !

× × फूल वाली डाल पर ज्यों विमुग्ध बुलबुल !

भाई, पहचानो तो, भले ही आपके कवि ने अपनी नूरा का चेहरा देखा हो, पर मुझे तो लगता है, कही उसके अवचेतन में अंगारों पर रखा हुआ कश्मीर फूल-वाली डाल की बुलबुल का भविष्य याद कर रहा है ।

खैर छोड़ें आपको । गुजराती कविता का अनुवाद सुनाने वाले भगवती-चरण वर्मा क्या प्रार्थना कर रहे हैं, उसकी ओर भी कान दें --

बस यही प्रार्थना

यही अर्चना मेरी ।

हैं ! क्या कहा—

××ऐश्वर्यो की अभिलाष नही

××मैं नही आयु भी माँग रहा हूँ तुझसे ।

ठीक कहते हो वर्मा जी ! जहाँ डालडा भी ब्लेक में विकता हो, वहाँ आयु की माँग करनी भी नहीं चाहिए ! पर भाई यह तो बताओ ऐसी अनास्था और वीतरागता से यह राष्ट्र कैसे आगे बढेगा ? क्या कहते हो —

× × घन अंधकार में भटके मेरी आत्मा

× × दुख के दल-दल में कितना तड़पूँ

पर हीन न समझूँ अपने को ।

यह बात कही है आपने । पर आत्मा की भी तो चिन्ता करो । वही अगर ब्लेक में भटकी तो हम अपने को हीनता से कैसे बचा पाएंगे ? यह तो अच्छा रहा कि आपने अपने अन्तर्यामी से जीवन में सान्निध्य चाहा --

हे अन्तर्यामी, हे कर्ता, हे दाता !

तेरा सान्निध्य होगा जीवन में ?

पर भाई, हमको तो आत्मा का सांन्ध्यि भी जीवन में ही कराओ, मृत्यु में नहीं।

और हाँ, यह बात कही है तामिल के अनुवादक मेघराज मुकुल ने —

यह विजय प्राचीर

युग युग से सुनिर्मित

× × यह निलय कैलास शिव का

× × शक्ति गर्वित दशमुख बना उद्धत

× × जब हुआ उद्यत उठाने

× × हो गया निःशेष दशमुख

और उनकी यह बात भी कुछ समझ में आई —

सुदृढ़ सीमा बन हिमाद्रि

रहे अविक्षत !

कम से कम आधुनिक राष्ट्रीय सीमा-संकट-बोध पर उनकी आस्था पूर्ण दृष्टि तो गई। उन्होंने कहा तो —

कौन है वह

× × आज रक्षा स्वयं इसकी हम करेंगे।

× × अमर हों सब स्नेह-वंदित जन हमारे।

अच्छा ही रहा कि इसके साथ ही तेलगु के अनुवादक ने यह घोषणा की कि—

रूप तुम्हारा परम क्रान्ति मय

भूल नहीं पाएँगें।

हाय जवाहर ! भूल नहीं पाएँगे !

पर उनकी यह बात समझ में नहीं आई कि—

तुम क्या गए कि

पंख कट गए हैं

हम सबके !

भाई, सब कहते हैं, मानते भी हैं कि नेहरू हमारे पंख काटना नहीं, हमारी

उड़ान बढ़ाना चाहते थे । वे गए तो हम उनके लिए दुःखी है, पर यह क्योंकि हमारे पंख ही वे काट गए । कहो, भाई अबकी बार अगली साल २६ जनवरी को तो कहना ही कि हमें वे जाते जाते भी नया आकाश और नई उड़ान-शक्ति दे गए । अपने महान् नायकों के बिछुड़ने पर जब कवि ही भावुक बनकर पंख काट बैठेंगे तो इन बिना पंखों के राष्ट्र का क्या होगा भाई !

पर ठीक है, आप तो नेहरू जी की याद कर रहे थे, हमारी ही तरह, शेष सब क्या था वह तो पंजाबी कविता के अनुवाद में इन्द्र जैन ने कह दिया है—

यह मेरा अनचाहापन

सच है दिखावा भर है ।

तो हम भी यही कहेंगे, भाई, दिखावे के लिए मत रोओ । रोना आता हो तो नेहरू के काम में जुटाने वाली आवाज दो ।

और सुनो बंगला कविता के अनुवादक मोहनसिंह सेंगरजी क्या कहते हैं—

× × बहुतों के सामने हार भी गया हूँ

× × कई बातें फिर पिंजड़े के पास

लौटकर आई हैं ।

इन्हें तो अब भी नीली साड़ी वाली कोई बच्चनी मायाविनी याद आ रही है —

× × आखिर नीली सारी में इठलाती जाती

यह सुन्दरी कौन है ?

× × अपने रूप को यह इस तरह छिपाती है

कि मैं देख नही पाता !

अरे साहब ! यह "ब्लेक" नारी है ! इसे देख कर क्या करोगे ? क्यों इसे २६ जनवरी के दिन सारे राष्ट्र को दिखाना चाहते हो ! यह रात रही तो सवेरे का स्वागत कैसे करोगे ?

२६ जनवरी आई है, वह बार बार आए, ऐसी कामना करो । यह वही २६ जनवरी है जिसको देखने के लिए आकुल होकर बच्चन जी भी नीली साड़ी वाली को भूल कर कह उठे थे—

वेदना जगा

जो जले मगर जिसकी ज्वाला

प्रज्वलित करे ऐसा विरोध

जो मानव के प्रति किए गए

अत्याचारों का करे शोध ॥

तो यह बात सुनो मराठी की कविता का अनुवाद करने वाले कैलाश वाजपेयी की—

सभी रास्तों पर तटस्थ चलता जाता है

निरुत्साह उपराम अकेला एक आदमी ।

यह कोई बात है । आखिर मराठी वालों ने फिर पहचाना तो उस आदमी पहले भी मराठे तिलक ने ही उस आदमी की मां को पहचाना था और उसकी मुक्ति को जन्म–सिद्ध अधिकार बताया था । यह ठीक है वाजपेयी जी —

× ×उसे खुशी का चहरा याद नहीं ।

× ×दिशाएँ झन्नाती हैं

× ×वर्षों से दिनचर्या ओढे

भीड़ों के संग भाग रहा है ।

× ×सोता हुआ खुली आँखों से

जाने किस बर्फीली नगरी में

जाग रहा है ।

जागने दो उसे । वाजपेयी जी, आपसे ही तो आशा है उसे जगाने की । फिर आपके आगे की कविता का रमासिंह भी यही अनुवाद करेंगी —

सिन्धु के उर से उठी

गंभीर गीतों की लहरियाँ

× ×जिसे सुन जाग जाता है नया उल्लास

वे यह कहें तो बुरा नहीं कि —

× ×लो नवोदित ऊष्मा के कण सुनहले

× ×हस रहा है एक नूतन वर्ष

× ×नारियल के वृक्ष की पातें

मगन हो नाचती–सीं

पर आगे उन्होंने जो कुछ कहा, वह आज न कहें तो अच्छा है, क्योंकि यह २६ जननरी है । इस अवसर पर आप सबसे सारा राष्ट्र नए जीवन-बोध की अपेक्षा

रखता है। आप राष्ट्र की चेतना के प्रतीक ही नहीं, उसके नर्तक और उन्नायक भी हैं। राष्ट्र का रथ साहित्यकारों के संकेत पर चलता है। इसलिए हमें अपनी आँखें खुली रख कर आगे का रास्ता देखना है। और यह तभी होगा जब हम वर्तमान की भूमि में अपना चरण आगे बढ़ाएँगे।

देखें, हिन्दी का कवि अपनी मौलिक बात क्या कह रहा है। सुनिए, ये हैं भवानीप्रसाद तिवारी —

काल से संग्राम करने के लिए मचले हठीले।

ये अपनी सीमा पर देख रहे हैं —

× × भारतीय टुकड़ी दनादन मार करती जा रही है।

× × यह महा उत्सर्ग सेना लौट कर फिर न आती।

× × इसी कारण क्षण आकाश पथ पर एक गोली सनसनाई।

अरे भाई, यह गोलियाँ चलाने का समय नहीं, गोलियाँ बनाने का समय है। उत्सर्ग तो हम बहुत करते रहे हैं, कुछ विजय का रास्ता बनाने की बात सोचो। देश को शक्ति देनी है, तो बीते हुए कल की बात छोड़ कर आज के आँगन में अपनी दृष्टि लाओ और आने वाले कल के रूपाकार गढ़ो। क्योंकि, हंसकुमार तिवारी भी तो तिवारी ही हैं वे साफ कह रहे हैं —

जिन्दगी फिर भी चलती है

खारों पर अंगारों पर

मगर हम वही के वही हैं

गोया किसी महाजन की बही है।

वे हम सबको कुछ और ही बात सुना रहे हैं —

और हम वही, न कोई शिकन

× × जहाँ किसी ने रख दिया

वहीं रखे रखे से

× × तुम को·······

× × क्या पता कि बुझा बुझा जीना क्या मुसीबत है।

उनको चिराग को बुझने का कितना डर है, यह भी तो देखो। वह कह रहा है—

काश, तुम जानते

होंठ बंद कर जहर पीना क्या होता है।

लगता है, मानसरोवर से उड़ कर आने वाले हंस के कुमारों का सीमा-संकट भीतरी संकट से भी परिचित हो गया है। पर भाई, जहर पीने से काम नहीं चलेगा। हम सब उपनिषदों के देश में पैदा हुए हैं, हमें अमृत की खोज करनी ही पड़ेगी। यदि हम भी जहर पीते रहेंगे तो राष्ट्र का रथ आगे कैसे बढ़ेगा ?
क्या—

जहाँ किसी ने रख दिया
वहीं रखे रखे से

और महाजन की वही बने-बने-से हम 'इण्टलेक्च्वल्स' भारत-जैसे महान् राष्ट्र की जिजीविषा की रक्षा कर सकेंगे।

शायद आप भी हमारे साथ यह अनुभव करते हैं तिवारी जी, कि यह अनास्था में डूबे रहने का समय नहीं है—कुण्ठाओं की आँधी पर जय पानी ही होगी। आओ हो सके तो हर २६ जनवरी को हम कोई ऐसा स्वर दें जो आज के भारत को आज और बीते हुए कल के संकटों से निकाल कर एक समृद्ध राष्ट्र के गौरव से अभिषिक्त कर सके।

———

: १३ :

'यशोधरा' काव्य में नारी के तीन रूप

स्वर्गीय श्री मैथिलीशरण गुप्त ने अपने सभी काव्यों में यथा-स्थान भारतीय नारी की महिमा और गरिमा का चित्रण किया है। 'साकेत' और 'यशोधरा' इस दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इन दोनों काव्यों मे उन्होंने नारी के उन रूपों का उद्‌घाटन किया है जो किसी भी युग के नारी-जीवन को गौरवान्वित कर सकते हैं। किन्तु 'साकेत' की नारी किसी भी पात्र के माध्यम से अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं पा सकी। 'यशोधरा' मे गुप्तजी ने इस अभाव की पूर्ति की है। इसमें उन्होंने सिद्धार्थ की पत्नी 'यशोधरा' के रूप मे भारतीय नारी को उसकी समग्रता में देखने की चेष्टा की है। उसकी यह समग्रता निम्नांकित तीन दिशाओं में चित्रित हुई है—

(१) व्यक्ति-गत आदर्श
(२) पति के प्रति समर्पण
(३) सन्तान के प्रति कर्त्तव्य-भावना

१—व्यक्ति—गत आदर्श—

'यशोधरा' में गुप्तजी ने भारतीय नारी के व्यक्तिगत आदर्श को अङ्कित करने का क्रम-बद्ध प्रयास किया है। उसकी महत्ता के अनेक यथार्थ माप-दण्ड लेकर उन्होंने अपनी कल्पना के रंग उसमें भरे हैं। पाश्चात्य नारी के भोग-प्रधान जीवन की तुलना में भारतीय नारी के पलड़े को झुकाने के लिए ही मानो 'यशोधरा' काव्य पाठकों के हाथों में आया। स्वाभिमान, त्याग, सन्तोष, सहनशीलता, श्रद्धा, वात्सल्य, आदर्श पति-प्रेम आदि अनेक नारी गुणों को चित्रित करने में गुप्तजी ने अपने काव्य की सफलता मानी है। भारत की नारी की जीवन-व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है—

अबला-जीवन हाय, तुम्हारी यही कहानी।
आंचल में हैं दूध, और आंखों में पानी॥

'यशोधरा' के आरम्भ से अन्त तक हम यशोधरा का चरित्र लेकर जब विचार करते हैं, तो नारी के इन्ही दो आदर्शों का विश्लेषण पाते हैं।

पति वियोगिनी नारी यशोधरा सब कुछ सहने को तैयार है। वह पति की विजय के लिए वियोग की आग में सानन्द जल सकती है, पति की सफलता के लिए

वह बड़े से बड़ा कष्ट उठा सकती है। परन्तु नर का उसके प्रति यह दृष्टिकोण कि नारी पुरुष के पथ की बाधा है—उसे सह्य नहीं। सिद्धार्थ वन को गए उसे छोड़कर, यह वह सह सकती है, क्योंकि इसमें उनके जीवन की जय का रहस्य छिपा है, परन्तु चोरी-चोरी क्यों गए? क्या उन्होंने उसको अपने पथ की बाधा समझा? वह कहती है—

सिद्धि-हेतु स्वामी गए, यह गौरव की बात।
पर चोरी-चोरी गए, यही बड़ा व्याघात॥

× × ×

सखि, वे मुझसे कह कर जाते,
कह तो क्या मुझको वे अपनी पथ-बाधा ही पाते?

वह भारतीय नारी को अयोग्य तथा अविश्वसनीय नहीं समझती। वह कहती है कि सिद्धार्थ ने उसको पूरा पहचान नहीं पाया—

मुझको बहुत उन्होंने माना
फिर भी क्या पूरा पहचाना?
मैंने मुख्य उसी को जाना,
जो वे मन में लाते।
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।

भारतीय नारी समाज, राष्ट्र तथा मानवता के लिए अपने सभी स्वार्थों का त्याग कर सकती है। वह पति की मंगल-कामना कब नहीं करती? सिद्धार्थ भी—

जायं, सिद्धि पावें वे सुख से,
दुखी न हो इस जन के दुख से,
उपालम्भ दूँ मैं किस मुख से?
आज अधिक वे भाते।
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।

बात वास्तव में यह है कि यशोधरा के चरित्र द्वारा गुप्तजी ने नारी के उस चरित्र की पूर्ति की है जो किसी अन्य कवि, नाटककार या उपन्यासकार द्वारा नहीं हो सकी।

यशोधरा का हृदय अत्यन्त उच्च तथा विशाल है। वह नारी का उत्तरदायित्व पहचानती है। अथवा, यों कहिए कि कवि ने नारी के हृदय को कितना विशाल, उच्च तथा उत्तरदायित्व पहचानने वाला होना चाहिए—यह यशोधरा के चरित्र द्वारा दिखाने

का प्रयत्न किया है। शुद्धोधन पुरुष होकर भी पुत्र को खोज करने के लिए व्याकुल उठे हैं; परन्तु यशोधरा का नारीत्व भावुकता की आंधी में पति को मार्ग से हटाना नहीं चाहता। वह रो सकती है, आहें भर सकती है, और सिसक सकती है तथा राहुल को खिलाकर मन बहला सकती है, परन्तु पति को ढूंढकर, विफल बनाकर, घर लौटा लाने की मूर्खता नहीं कर सकती।

पति की सफलता के लिए नारी को अपने सुख-विलास को हँसकर त्याग देना चाहिए, यही मानो यशोधरा के निम्नाङ्कित वाक्य कह रहे हैं—

पहुँचाती मैं उन्हें सजा कर,
गए स्वयं वे मुझे लजाकर।
लूंगी कैसे ? वाद्य बजाकर
लेंगे जब उनको सब लोग।
मिला न हा ! इतना भी योग।

नारी कितनी सामर्थ्य तथा शक्ति रखती है, यह नीचे की पंक्तियों से समझा जा सकता है—

बाधा तो यही है, बाधा मुझे नहीं कोई भी।
विघ्न भी वही जहां जाने से जगत में॥
कोई मुझे रोक नहीं सकता—धर्म से।
फिर भी जहां मैं आप इच्छा रहते हुए॥
जाने नहीं पाती। यदि पाती तो कभी यहां।
बैठी रहती मैं ? छान डालती धरती को॥
सिंहिनी-सी काननों में विहंगिनी-सी व्योम में।
जाती तभी और उन्हें खोज कर लाती मैं।

यदि गहराई से देखा जाय तो यशोधरा का नारीत्व उस मुक्ति की खोज के प्रति विद्रोह करता है, जो सांसारिक कर्तव्यों को भूलकर की जाती है। पुरुष के निराशावादी दृष्टिकोण को लेकर यशोधरा की नारी उसका खण्डन करने बैठती है—

यदि हम में अपना नियम और शम-दम है
तो लाख व्याधियां रहें स्वस्थता सम है।
वह जरा एक विश्रान्ति जहां संयम है।
नव जीवन-दाता मरण कहां निर्मम है ?

भव भावे मुझको और उसे मैं भाऊँ।

कह मुक्ति भला किस लिए तुझे मैं पाऊँ ?

और इस प्रकार यशोधरा की नारी स्पष्ट घोषणा करती है कि मुक्ति सृष्टि-वेरोधिनी है, इसलिए उसकी खोज करना भूल है।

गृह-सीमाओं में रहकर पुत्र-पालन करके तथा गृहस्थी को सम्हाल करके ही नारी का जीवन सफलता पा सकता है। यह दिखाने का प्रयत्न भी गुप्तजी ने किया है। नारी की सब सिद्धियाँ उसकी कर्तव्य पालन की तपस्या के परिणाम-स्वरूप उसके पास ही चली आती हैं। आँखों के आँसुओं को तथा आंचल के दूध को एक साथ पालने वाली भारतीय नारी का जीवन कभी भी विफल नहीं, यह 'यशोधरा' काव्य से स्पष्ट हो जाता है।

पुत्र ही भारतीय नारी के दुखी हृदय को सन्तोष की शीतलता देकर शान्ति-दाता बन सकता है, यह बात यशोधरा की निम्नाङ्कित पंक्तियों से स्पष्ट है। वह अपने अबला-जीवन को किसी प्रकार निभाना चाहती है—

बस, मैं ऐसी ही निभ जाऊँ।

राहुल निज रानीपन देकर,

तेरी चिर परिचर्या पाऊँ।

तेरी जननी कहलाऊँ तो,

इस परवश मन को बहलाऊँ।

भारतीय नारी पति के वियोग में उनकी पूजा में अपना स्नेह-दीप किस तल्ली-नता तथा सन्तोष के साथ अखण्ड जगाती है—

स्नेह—दीप उनकी पूजा का,

तुझ में यहाँ अखण्ड जगाऊ।

दीठ न लगे, डिठौना देकर,

काजल लेकर तुझे लगाऊँ।

तभी तो वह गर्व से कह सकती है—

तुच्छ न समझो मुझको नाथ।

अमृत तुम्हारी अञ्जलि में तो भाजन मेरे हाथ।

तथा

मेरे नाथ, रहे तुम नर से नारायण होकर ही।

+ + +

अच्छी मैं नारी की नारी।

भगवान् बुद्ध भी अन्त में नारी की विजय स्वीकार करते है? वे उसे दुर्बल समझ कर तथा अपने पथ की बाधा मानकर सोता छोड़ गए थे। परन्तु अब वे स्वयं कह सकते हैं—

माना तब दुर्बल था तुमको,
मैं तज गया निदान।
किन्तु शुभे परिणाम भला—
ही हुआ सुधा-सन्धान।
यदि मैंने निर्दयता की तो,
क्षमा करो प्रिय जान।
मैत्री-करुणा-पूर्ण आज—
मैं शुद्ध बुद्ध भगवान्।

वे मानते हैं कि नारी कभी भी दीन नहीं—

दीन न हो गोपे, सुनो,
दीन नहीं नारी कभी।
भूत दया-मूर्ति वह,
मन से शरीर से।

यही जीवन में नारी की सबसे बड़ी सफलता है। गुप्तजी ने नारी का आदर्श चरित्र प्रस्तुत कर उसके आंसू भरे आंचल के दूध का कितना महत्त्व आंका है, यह बात 'यशोधरा' काव्य पढ़ने से स्पष्ट हो जाती है और एक बार फिर मुख पृष्ठ के ये शब्द यशोधरा में नारी का आदर्श समझते समय याद आ जाते हैं—

अबला जीवन हाय, तुम्हारी यही कहानी।
आंचल में है दूध और आंखों में पानी॥

२—पति के प्रति समर्पण।

'यशोधरा' की नारी पति के प्रति पूर्णतः समर्पिता नारी है। पति-वियोग से उसका यह रूप प्रकाश में आया है। काव्य के प्रारम्भ में ही भवमुक्ति को ठुकरा-कर सिद्धार्थ विरक्त होना चाहते है और मुक्ति की खोज में वन को निकल जाना चाहते हैं। शीघ्र ही एक दिन प्रभात में कपिलवस्तु नगर में हलचल मच जाती है कि सिद्धार्थ संन्यासी होकर वन को चले गए। यशोधरा का बांया नयन फड़कता है और उसके जीवन मे वियोग का अन्धकार घिर आता है। यह अन्धकार उसके जीवन में

उस समय तक छाया रहता है, जब तक सिद्धार्थ 'भगवान् बुद्ध' बनकर उसे दर्शन नहीं देते।

प्रियतम का वियोग होते ही उसके हृदय में विरह-व्यथा उमड़ती है। सबसे पहला जो दुख उसको होता है वह यह है कि चलते समय उसने उनके दर्शन नहीं किए। उसे पहले अपने यौवन पर सन्देह होता हैं; जिसमें उनको आकर्षण-पाश में बाँध रखने की शक्ति नहीं रही। वह सोचती है—

सास - ससुर पूछेंगे
तो उनसे क्या अभी कहूँगी मैं।
हा! गर्विता तुम्हारी,
मौन रहूँगी सहूँगी मैं।

फिर वह वियोगिनी बनने के लिए सखी से कहती है—

आलि कर्त्तरी ला मैंने क्या पाले काले व्याल ?
उलझें यहाँ न वे आपस में सुलझें वे व्रत पाल।
डसें न हाय मुझे ऐडी तक, विस्तृत ये विकराल
कसें न और मुझे अब आकर हेम हीर मणिमाल।
चार चूड़ियाँ ही हाथों में पड़ी रहें चिरकाल॥

इस प्रकार शरीर का बनाव-शृंगार अब उसे अच्छा नहीं लगता। जिन काले बालों को देखकर कभी वह प्रसन्न होती थी, आज प्रियतम के वियोग में उसे बाल व्याल मालूम पड़ते हैं। वह उन्हें काट डालती है। सौभाग्य की केवल चार चूड़ियाँ उसके हाथों में रह जाती हैं। उसे रह रह कर प्रियतम की याद आती है और वह इस बात का पश्चात्ताप करती है—

मिला न हा! इतना भी योग,
मैं हँस लेती तुझे वियोग।
देती उन्हें विदा मैं गाकर
भार झेलती गौरव पाकर।
यह विश्वास न उठता हा कर
बनता मेरा राग न रोग।
मिला न हा! इतना भी योग।

उसके प्रियतम वन में हैं; परन्तु उनकी एक प्रतिमा उसके मन में समाई हुई है। वह रोती हुई कहती है—

दिव्य – मूर्ति वंचित नैन,

चर्म चक्षु गल जावें।

प्राण! विघ्न कर प्रिय न जो

प्राणों में ढल जावें।

जैसे गंध पवन में।

सखि! प्रियतम हैं वन मे।

विरह में यशोधरा को मरण भी सुन्दर बनता जान पड़ता है। उसके मनस्ताप से वह भी पिघलता जान पड़ता है। उसे ऐसा लगता है कि कराल कठोर काल भी सदय हो गया है। मानो विरह ने अपने हाथों से कठोर काल का शृंगार किया है। वह दुखी होकर कहती है—

स्वामी मुझको मरने का भी दे न गए अधिकार

× × × ×

जिए जल जलकर काया री।

मरण सुन्दर बन आया री॥

ऋतुएँ क्रम से आती हैं और उसके वियोग को बढाकर चली जाती हैं। प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ में यशोधरा को अपने प्रियतम के गुणों की छाया दिखाई देती है। वह उनका स्मरण कर व्यथित हो उठती है। जब कोयल कूकती है, तो वह अपने वनमाली की याद में तड़प उठती है—

ढलक न जाय अर्घ्य आँखों का, गिर न जाय यह थाली।

उड़ न जाय पक्षी पाँखों का, आओ हे गुणशाली॥

ओ मेरे वनमाली।

चातकी का स्वर उसके विरह को उद्दीप्त करता है। वह उस स्वर पर पगली-सी होकर बलिहार होती है—

बलि जाऊँ बलि जाऊँ चातकी,

बलि जाऊँ इस रट की।

मेरे रोम रोम में आकर,

यह काँटे सी खटकी।

कभी घबराकर कह उठती है—

यह प्रभात या रात है, घोर तिमिर के साथ।

नाथ कहाँ हो हाय तुम, मैं 'अदृष्ट के हाथ॥

वह मिलन–शून्य में विरह–घटा सी छा जाना चाहती है। सोते जागते हर समय प्रियतम का विरह उसे पागल बनाये रहता है। कभी वह स्वप्न में अपने प्रियतम को देखकर चौंक उठती है—

ओ हो ! कैसा था यह सपना,
देखा है रजनी में सजनी
मैंने उनका तपना।

एक दिन उसका विरह मिलन की भूमिका बन जाता है। उसके वाम अंग फड़कते हैं और उसके हृदय में आनन्द की एक लहर-सी उत्पन्न होती है। स्वप्न का मिलन उसके अन्तर में एक उमंग पैदा कर देता है। वह सोचती है—

मिला मुझे क्या नहीं स्वप्न में,
किन्तु हुआ वह स्वप्न भंग।
वंचक विधि ने लिया न हो सखि.
अब यह कोई और ढंग।

रोहिणी नदी के किनारे पहुँचकर वह स्मरण करती है—

रोहिणी हाय ! यह वह तीर
बैठते आकर जहाँ वे धर्म-धन ध्रुव-धीर।
मैं लिए रहती विविध पक्वान्न भोजन खीर,
वे चुगाते मीन, मृग, हंस, केकी, कीर।

प्रियतम के आने की सूचना मिल जाने पर भी जब वे नहीं आते तो वह आकुल होकर सखी से पूछती है—

आली पुरवाई तो आई, पर वह घटा न छाई।
खोल चञ्चु–पुट चातक तूने ग्रीवा वृथा उठाई।

अन्त में वह भगवान् से निवेदन करती है—

तेरी करुणा का एक कण
बरस पड़े अब भी कहीं,
तो ऐसा फल है कौन जो,
मिट्टी में फलता नहीं ?

अन्त में उसका वियोग सफल बन जाता है। उसके प्रियतम उसे दर्शन देते हैं; परन्तु प्रियतम के रूप में नहीं, एक संन्यासी के रूप में, जिनके चरणों मे वह अपने को अर्पण कर कृतकृत्य हो जाती है।

३-संतान के प्रति कर्त्तव्य भावना

यशोधरा एक पुत्रवती नारी है, कवि ने उसे विरह-विधुरा दिखाकर भी उसकी पुत्र के प्रति कर्त्तव्य-भावना को मंद नहीं होने दिया। उसके वात्सल्य का प्रकाशन राहुल-जननी शीर्षक में बड़े ही सुन्दर ढंग से हुआ है। सूरदासजी के बाद वात्सल्य के क्षेत्र में किसी भी हिन्दी कवि की दृष्टि नहीं रमी, मानों उसी का ध्यान गुप्तजी को 'यशोधरा' लिखते समय हुआ। उन्होंने वियोग के आँसुओं को बीच-बीच में रोक कर जो समय निकाला है, उसी में वात्सल्य धारा बहाकर यशोधरा के 'आँचल में दूध' की श्रेष्ठता दिखाई है। गीत-शैली में होने के कारण वह वात्सल्य वर्णन कहीं-कहीं सूर के वात्सल्य-वर्णन की उच्चकोटि तक पहुँच गया है।

वियोग की पीड़ा एक ओर यशोधरा के हृदय को दुखा रही है, दूसरी ओर वह अपने रोते हुए शिशु राहुल को चुप करना चाहती है-

चुप रह, चुप रह, हाय अभागे।
रोता है अब किसके आगे ?
× × ×
बेटा ! मैं तो हूँ रोने को
तेरे सारे मल धोने को
हँस तू है सब कुछ होने को
भाग्य आएँगे फिर भी भागे।
चुप रह, चुप रह, हाय अभागे।

आँखो में आँसू भरे वह राहुल से बात कर अपना मन बहलाती है-

तुमको क्षीर पिला कर लूँगी,
नयन-नीर ही उनको दूँगी,
पर क्या पक्षपातिनी हूँगी ?
मैंने अपने सब रस त्यागे।
चुप रह, चुप रह, हाय अभागे।

फिर अपना जीवन शिशु पर केन्द्रित करती हुई धीरे धीरे पुत्र के मुख को देख कर सन्तोष करती है-

मेरा शिशु-संसार यह, दूध पिए परिपुष्ट हो।
पानी के ही पात्र तुम, प्रभो रुष्ट या तुष्ट हो।

राहुल को देखकर कुछ समय के लिए वह विरह-व्यथा भूल जाती है। शिशु-सौन्दर्य पर मोहित होकर कहती है-

यह छोटा-सा छौना

कितना उज्ज्वल, कैसा कोमल, क्या ही मधुर सलौना।

क्यों न हँसू-रोऊँ-गाऊँ मैं, लगा मुझे यह टोना।

आर्य पुत्र, आओ सचमुच मैं दूँगी चन्द-खिलौना।

कहीं-कहीं तो ऐसा प्रतीत होता है कि सूर के कृष्ण पर यशोदा बलिहार हो रही है-

किलक अरे, मैं नेक निहारूँ,

इन दाँतों पर मोती वारूँ।

पानी भर आया फूलों के मुँह में आज सवेरे,

हाँ गोपा का दूध जमा है राहुल! मुख में तेरे।

लटपट चरण चाल अटपट-सी मन भाई है मेरे।

तू मेरी अंगुली धर अथवा मैं तेरा कर धारूँ?

इन दाँतों पर मोती वारूँ।

राहुल आँगन में खेलता है। वह अपना प्रतिविम्ब देखकर भयभीत होकर माता के पास आता है-

ओ माँ, आँगन में फिरता था

कोई मेरे संग लगा।

आया ज्योंही मैं अलिन्द में

छिपा न जाने कहाँ भगा।

यशोधरा समझाती है—

बेटा भीत न होना, वह था,

तेरा ही प्रतिविम्ब जगा।

राहुल कहता है—'अम्ब भीति क्या'? तो यशोधरा उत्तर देती है-

× × मृषा भ्रान्ति वह,

रह तू रह तू प्रीति-पगा।

कहीं-कहीं तो यशोधरा राहुल को खिलाती हुई ऐसी जान पड़ती है, मानो यशोदा बाल कृष्ण को पकड़ने दौड़ रही हो-

ठहर बाल-गोपाल कन्हैया।

राहुल राजा भैया।

कैसे पाऊँ, पाऊँ तुमको द्वार गई मैं दैया
सद्य दूध प्रस्तुत है बेटा दुग्ध-फेन-सी मैया।
तू ही एक खिवैया, मेरी पड़ी भँवर में नैया।
आ मेरी गोदी में आजा, मैं हूँ दुखिया मैया

राहुल किलक कर कहता है

मैया है तू अथवा मेरी दो थन वाली गैया ?
रोने से यह रिस ही अच्छी तिली तिली ता थैया।

राहुल चन्द्र खिलौना माँगता है, तो यशोधरा कहती है—

तब कहता था—'लोभ न दे' अब
चन्द्र खिलौने की रट क्यों ?

उत्तर मिलता है—

तब कहती थी—'दूँगी बेटा।'
माँ, अब इतनी खटपट क्यों ?

राहुल कहानी सुनने के लिए हठ करता है। यशोधरा इसी बहाने उसे दूध पिला देना चाहती है। परन्तु वह कहता है—

नही पियूंगा नही पियूंगा पय हो चाहें पानी।

यशोधरा फिर कहानी का लोभ दिखाती है—

नहीं पियेगा बेटा, यदि तो तू सुन चुका कहानी।

राहुल दूध नहीं पियेगा, चाहे उसे वह कहानी सुनाए चाहे न सुनाए। यदि वह नहीं सुनाएगी तो—

तू न कहेगी तो कहलूँगा मैं अपनी मनमानी।
सुन राजा वन रहता था घर रहती थी रानी।

माँ के हृदय में वात्सल्य की धारा उमड़ पड़ती है। वह पुलकित होकर उसे गले से लगा लेती है—

और हठी बेटा रटता था—नानी—नानी—नानी।

कुछ बड़ा होने पर राहुल माँ से भाँति-भाँति के प्रश्न करने लगता है—

अम्ब, तात कब आएँगे ?

× × ×

अम्ब मेरी बात कैसे तुझ तक जाती है ?

फिर कहता है-

विहग समान यदि अम्ब पंख पाता मैं
एक ही उड़ान में तो ऊंचे चढ़ जाता मैं।
मण्डल बना कर मैं घूमता गगन में,
और देख लेता पिता बैठे किस वन में।

यशोधरा बातों में उसे बहलाती है, तो उसे कहानी की फिर याद आ जाती है। वह कह उठता है—

मां, कह एक कहानी।
× × +
कहती है मुझ से यह चेटी-
तू मेरी नानी की बेटी।
कह मां, कह लेटी ही लेटी,
राजा था या रानी ?
राजा था या रानी ?
मां, कह एक कहानी।

यशोधरा का वात्सल्य लहराता है, तो विरह-व्यथा कुछ समय के लिये दब जाती है। वह दिन मे राहुल को लेकर बैठ जाती है और अपने मन को बहलाया करती है। जब रात आती है, तो वह उसे सुलाती हुई गाती है-

सो, अपने चंचलपन सो,
सो, मेरे अंचल - धन सो।
पुष्कर सोता है निज सर में,
भ्रमर सो रहा है पुष्कर में।
गुञ्जन सोया कभी भ्रमर में,
सो, मेरे गृह - गुञ्जन सो,
सो, मेरे अंचल-धन, सो।
तनिक पार्श्व परिवर्तन करले,
उस नासा पुट को भी भरलें।
उभय पक्ष का मन तू हरले,

मेरे व्यथा-विमोहन सो,

सो, मेरे अञ्चल-धन, सो।

तारों की ओर संकेत करती हुई वह गाती है—

ऊपर तारे झलक रहे हैं,

गोखों से नग ललक रहे हैं।

नीचे मोती ढलक रहे हैं,

मेरे अपलक दर्शन, सो,

सो, मेरे अञ्चल-धन सो।

राहुल की साँसें उसे कितना आनन्द दे रही हैं—

तेरी सांसों का सुस्पन्दन,

मेरे तप हृदय का चन्दन।

वह अभिलाषा करती है—

खेले मन्द पवन अलकों से,

पोंछू मैं उनको पलकों से।

छद-रद की छवि की छलकों से,

पुलक-पूर्ण शिशु-यौवन सो।

सो, मेरे अञ्चल-धन, सो॥

प्रभात होने पर यशोधरा अपने पुत्र को गाती हुई जगाती है—

मेरे बेटा, भैया, राजा

उठ, मेरी गोदी में आजा

मोरा नचे, बजे हाँ बाजा

सजे श्याम हय, या सित नाग?

जाग दुःखिनी के सुख जाग।

'दीठ' न लग जाय, इस विचार से माँ राहुल के माथे पर काजल का टीका लगाना चाहती है, तो वह किलक कर दूर भाग जाता है। वह कहता है—

लोहित विन्दु भाल पर तेरे,

मैं काला क्यों दूं माँ?

लेती है जो वर्ण आपतू,

क्यों न वही मैं लूं माँ?

एक इसी अन्तर के मारे,

मैं अति अस्थिर हूँ माँ !

मेरा चुम्बन तुझे मधुर क्यों ?

तेरा मुझे सलोना ।

कैसी दीठ ? कहाँ का टोना ।।

धीरे-धीरे यशोधरा का वात्सल्य उसके मन में एक ऐसी शीतल पुलक भर देता है, जिसके कारण विरह की ज्वाला की तपन सिद्धार्थ के लौटकर आने तक भयंकर रूप धारण कर उसे जलाती नहीं जान पड़ती ।

गुप्त जी ने यशोधरा और राहुल के प्रसंग को लेकर भारतीय जननी के वात्सल्य की जो पवित्र धारा 'यशोधरा' काव्य में वहाई है, वह वड़ी रम्य तथा आह्लादकारी है । साथ ही यह समस्त वात्सल्य-चित्रण यशोधरा के नारीत्व को उसकी सन्तान के प्रति कर्त्तव्य-भावना का अत्यन्त सशक्त रूप पाठक के मानस पर लाता है ।

उपसंहार—पूर्वोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'यशोधरा' काव्य में नारी को विचार और भावना के अत्यन्त उच्च धरातल पर चित्रित किया गया है । पति और सन्तान से पृथक मात्र नारी का उसका 'अहं' भी अपने लिये उतना ही उच्च सोपान खोज रहा है, जितने उच्च सोपानों पर उसका पत्नीत्व और मातृत्व प्रतिष्ठित किया जा सकता है । निःसन्देह नारी के चित्रण में गुप्तजी द्वारा अपनाया गया वह दृष्टि-कोण सभी प्रकार से महत्त्वपूर्ण और सांस्कृतिक है ।

: १४ :

महावीर प्रसाद द्विवेदी का अनूदित शिव-काव्य

हिन्दी–काव्य के विकास में राम और कृष्ण के चरित्रों से जितना योग मिला है, उतना ही योग शिव के चरित्र से भी मिला है। वीर गाथा काल से हिन्दी का कवि प्रवन्ध और मुक्तक दोनों शैलियों में शिव का लीला–गान या स्तवन करता रहा है। आधुनिक काल में शिव-काव्य-धारा को नवीन गति और दिशा प्रदान करने का श्रेय आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी को प्राप्त है। वे खड़ी बोली हिन्दी के प्रथम कवि माने जा सकते हैं, किन्तु ब्रज भाषा में भी वे समान रुचि से कविता करते थे। इन दोनों ही बोलियों में उन्होंने शिव–काव्य की अखण्ड धारा को नए वेग से प्रवाहित करने का प्रयास किया था। संस्कृत में शिव-सम्बन्धी कई श्रेष्ठ काव्य उपलब्ध हैं। द्विवेदी जी ने उनका हिन्दी में अनुवाद करने का कार्य प्रारम्भ किया। ऐसा करके उन्होने संस्कृत-शिव-काव्य के महत्त्व से हिन्दी कवियों को परिचित कराया तथा शिव-चरित की महिमा से भी उन्हें अवगत कराया। अनुवाद की अपेक्षा मौलिक काव्य-सृजन सरल होता है। वे एक प्रतिभाशाली साहित्यकार थे। अतः चाहते तो अनुवाद करने के स्थान पर कोई मौलिक शिव-काव्य भी लिख सकते थे। किन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, उनका मुख्य उद्देश्य हिन्दी के कवियों को संस्कृत-शिव-काव्य के सौन्दर्य से परिचित कराना था। अतः उन्होंने संस्कृत के निम्नांकित तीन महत्त्वपूर्ण शिवकाव्यों का हिन्दी में अनुवाद किया :—

१. महिमा स्तोत्र

२. गंगा-लहरी

३. कुमार संभव

इन काव्यों को द्विवेदी जी ने अत्यन्त सरल और प्रभाव–पूर्ण हिन्दी में प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। वे सर्वत्र इस बात के लिए सचेष्ट रहे हैं कि मूल काव्यों की महिमा में अनुवाद के कारण कोई बाधा उपस्थित न हो। अतः उन्होंने अपनी काव्य-साधना का समस्त मधुर फल उसमें प्रयोग कर दिखाया है। यहां संक्षेप में पूर्वोक्त तीनों कृतियों के द्विवेदी–कृत अनुवादों का परिचय प्रस्तुत किया जाता है :—

१—महिम्न स्तोत्र :

संस्कृत में इस स्तोत्र की रचना आचार्य पुष्पदत्त ने की थी। द्विवेदी जी ने सन् १८८५ ई० में होशंगाबाद में निवास करते समय इसका अनुवाद किया।[१] द्विवेदी-काव्य-माला में वह अनुवाद पृष्ठ ५५ से ६४ तक संकलित है।

द्विवेदी जी को यह शंका थी कि कहीं अनुवाद करने के कारण मूल काव्य के भावों को क्षति न पहुँचे, इसलिए उन्होंने पद्य-रचना के साथ गद्य में मूल श्लोकों का भावार्थ भी दिया है। पद्यानुवाद में शब्द के स्थान पर शब्द रखने की प्रवृत्ति न अपनाकर भाव का स्पष्ट बोध कराने वाले शब्दों को स्थान दिया है। अतः मूल काव्य के प्रभाव और आनन्द दोनों को अनुवाद में अपनी सुरक्षा करने का पूर्ण अवसर प्राप्त हुआ है। एक उदाहरण देखिए :—

मूल :— अयत्मादासाद्य त्रिभुवनमवैरव्यतिकरम्।
दशास्यो यद् वाहू नभृतरणकंडूपरवशान्॥
शिरः पद्म श्रेणीरचित चरमांभोरूहबलेः।
स्थिरायास्त्वद्भक्तेस्त्रिपुरहर विस्फूर्जितमिदम्॥[२]

अनुवाद :— दश ग्रीव लै मुण्डमाला तुम्हें जो
चढ़ावै अनेकानि बारै हुमै जो।
फलाहू, प्रसन्न प्रत्यक्षे दिखायो।
निजाशीष सौ सार ताको बढ़ायो।
महाव्है बली तीन हू लोक त्रासे।
भयो एक राजा बिना ही प्रभा से।
तऊ ना गई खाज वाहून वाके।
बड़ी युद्ध इच्छा बढ़ी हीय ताके।[३]

द्विवेदी जी ने अनुवाद करते समय छन्द सम्बन्धी स्वतन्त्रता अपनाई है। मूल काव्य में शिखरिणी, हरिणी, मालिनी, अनुष्टुप एव वसन्ततिलका छन्दों का प्रयोग किया गया है, किन्तु द्विवेदी जी ने अपने अनुवाद में शिखरिणी, भुजग प्रयात, हरि-

---

१—देखिए द्विवेदी—काव्य—माला, महिम्न स्तोत्र की भूमिका। पृष्ठ ५३

२—श्री महिम्न स्तोत्रम्, श्लोक ११

३—द्विवेदी-काव्य—माला, छन्द २१, २२ पृष्ठ ६१

गीतिका, नाराच, मालिनी एवं तोमर आदि छन्दों को प्रयुक्त किया है। मूल काव्य में ४१ छन्द हैं जबकि द्विवेदी जी ने उनका अनुवाद ५६ छन्दों में समाप्त किया है। द्विवेदी जी चाहते तो मूल के छन्दों का ही सफलता पूर्वक प्रयोग कर सकते थे किन्तु उन्होंने जान बूझ कर ऐसा नहीं किया। वास्तव में वे अनुवाद में "मक्षिका स्थाने मक्षिका" की नीति को त्याग कर अनुवादक को बाहरी बन्धनों से स्वतंत्र करना चाहते थे।

छन्द के समान ही भाषा के विषय में भी उनका एक मौलिक दृष्टिकोण था। वे खड़ीबोली के पक्षपाती थे। संस्कृत के काव्य का अनुवाद खड़ीबोली में ब्रज की अपेक्षा अधिक सरलता से हो सकता था, परन्तु उन्होंने ब्रजभाषा में ही महिम्न स्तोत्र का अनुवाद किया। ऐसा करके उन्होंने भाषा-सम्बन्धी उदारता तो दिखाई ही, साथ ही यह भी सिद्ध कर दिया कि अनुवाद के कार्य मे शब्द-सम्बन्धी कोई कठिनाई नहीं होती, किसी भी भाषा या बोली में किसी भी भाषा के काव्य का सफलता पूर्वक अनुवाद किया जा सकता है। इस अनुवाद की भाषा पर्याप्त सरल एवं स्वाभाविक ब्रज भाषा है।

२-गंगालहरी :—

पण्डितराज जगन्नाथ ने संस्कृत में इस काव्य की रचना की थी। द्विवेदी जी ने इस काव्य का भी ब्रजभाषा-पद्य मे अनुवाद किया है। यह अनुवाद भी द्विवेदी काव्य-माला में संकलित है।[४] जगन्नाथ ने अपने अन्य ग्रन्थों में इस काव्य का नाम पीयूषलहरी लिखा है। इस काव्य में गंगा का स्तवन प्रधान है, किन्तु उसके संदर्भ में यत्र-तत्र शिव का स्तवन भी बिखरा पड़ा है। इस काव्य में गहरी जीवन दृष्टि के आधार पर हृदय के भावों की व्यंजना की गई है। द्विवेदी जी ने भावों को अपने अनुवाद में सुरक्षित ही नहीं रखा अपितु उनका काव्य-सौन्दर्य भी बढ़ा दिया है। अनुवाद का एक उदाहरण देखिए :—

मूल — समृद्धं सौभाग्यं सकल वसुधायाः किमपि तन।
महैश्वर्यंलीलाजनित जगतः खण्डपरशोः।
श्रुतीनां सर्वस्वं सुकृतमयमूर्तं सुमनसाम्
सुधा सौन्दर्यं ते सलिलमशिवं नः शमयतु ।।[५]

अनुवाद :— जो भुव के समृधि सिद्धि सुभाग को
सत्य सदैव बढावन हारो।
भू जिनकी फिरते सब विश्व बनै।
तिन शंकर को धनसारो।

४-देखिए द्विवेदी काव्य माला पृष्ठ १११ से १३७

५-गंगालहरी श्लोक १

वेदन की सर्वस्व तिरन्तर देवन ।
पुण्य पताक विचारो ।
सो जल गंग तिहारो सुधा सम
नाशहि पातक सर्व हमारो ।।[६]

अनुवाद में भाव की रक्षा का ही प्रयत्न लक्षित नहीं होता, अपितु मौलिक कृति जैसा आनन्द भी आता है।

द्विवेदी जी ने इस अनुवाद में भी छन्द-प्रयोग की स्वतन्त्रता अपनाई है। मूल काव्य में प्रारम्भिक ४८ छन्द शिखारिणी है और अन्तिम चार पृथ्वी, शार्दूल विक्रीड़ित, सम्धरा एवं उपजाति है। द्विवेदी जी ने प्रारम्भ के ५० छन्दों का अनुवाद सवैया में किया है तथा अन्तिम दो का दण्डक और वसंततिलका में। भाषा तत्सम शब्दावली प्रधान साहित्यिक ब्रज भाषा है।

३-कुमारसम्भव :—

इस काव्य की रचना संस्कृत में महाकवि कालिदास ने की थी। द्विवेदी जी ने कुमारसंभवसार नाम से इस काव्य का अनुवाद किया है। इस अनुवाद में समस्त काव्य को स्थान नहीं मिला, केवल प्रारम्भ के ५ सर्गों का ही इसमें अनुवाद है। इनमें सभी सर्गों का भी पूर्ण अनुवाद नहीं किया गया, केवल तृतीय तथा पंचम सर्गों का ही पूर्ण अनुवाद दिया गया है तथा शेष तीन सर्गों के मूल भाव का सार मात्र प्रस्तुत किया गया है।

इस अनुवाद में दिवेदी जी ने अपनी रचना-प्रतिभा का पूर्ण उपयोग किया है। अतः अनुवाद-जन्य नीरसता कहीं अनुभव नहीं होती। कहीं-कहीं तो वर्णन अत्यन्त सजीव और स्वाभाविक हो गए हैं कि उन्हें पढ़ते समय अनुवाद का आभास भी नहीं होता। द्विवेदी जी ने अपनी मौलिक प्रतिमा के संयोग से उसे पूर्णतः रमणीय बना दिया है। उदाहरणार्थ हिमालय-वर्णन का प्रथम श्लोक ही लीजिए। द्विवेदी जी ने उसका अनुवाद इस प्रकार प्रस्तुत किया है :—

दिव्य दिशा उत्तर में शोभित
देवतात्मा अधिकारी ।
भूधर पति व अति पृथुल हिमालय।
हिम मण्डित मस्तक धारी ।
पूर्व और पश्चिम पयोधिके ।
बीच बढ़ा कर तनुधारी ।

६-द्विवेदी काव्य माला पृष्ठ ११५

मही माप के दण्ड तुल्य है ।

रचना बहु विस्मय कारी ॥

इस अनुवाद की भाषा खड़ी बोली हिन्दी है तथा शब्द-योजना पूर्णतः स्वाभाविक, भाव का अनुसरण करने वाली तथा छन्दानुकूल है ।

निष्कर्ष यह कि द्विवेदी जी के पूर्वोक्त तीनों अनुवाद हिन्दी में शिव-काव्य-धारा की त्रिवेणी प्रवाहित कर नए सृजन की प्रेरणा देते हैं। वे प्राचीन और नवीन के मध्य भाव, भाषा और छन्द की दृष्टियों से सेतु का काम भी करते हैं। इन अनुवादों का द्विवेदी-युग की हिन्दी-काव्य धारा में कई दृष्टियों से विशेष महत्त्व है। द्विवेदी जी ने इन अनुवादों के द्वारा विषय, भाषा और छन्द सम्बन्धी अपनी उदारता का परिचय दिया है, साथ ही भविष्य की सम्भावनाओं की ओर भी संकेत किया है।

: १५ :

'प्रसाद' का 'आँसू' : एक विवेचन

जयशंकर प्रसाद हिन्दी साहित्य में छायावाद के प्रवर्तक माने जाते हैं। 'आंसू' उनका छायावादी दृष्टि से लिखा गया एक श्रेष्ठ गीति-काव्य है। कुछ लोगों ने इसे खंड-काव्य भी माना है, लेकिन वास्तव में इसमें कवि ने गीति-रचना की भाव-पद्धति को अपनाया है। यद्यपि इसमें उन्होंने गीति की शैली नहीं अपनाई है, परन्तु भाव-क्षेत्र का समस्त विस्तार गीति-विधान के अनुकूल हुआ है। इस काव्य की विशेषताएँ भाव-पक्ष तक ही सीमित नहीं हैं, अभिव्यंजना-प्रणाली भी अनेक विशेषताओं को लिये हुए हैं। जहां तक भाव-पक्ष का सम्बन्ध है, प्रसाद जी ने आंसू काव्य में जो भाव व्यक्त किये हैं, उनसे पाठक का पूर्णतः साधारणीकरण हो जाता है। यद्यपि प्रसादजी ने इस काव्य में अपनी पत्नी की मृत्यु के पश्चात उत्पन्न आत्म-वेदना को गहरी अनुभूति के साथ चित्रित किया है-इसलिए यह काव्य स्वानुभूति व्यंजकता पर आधारित है, तथापि कवि का भाव पाठक तक इस प्रकार पहुँचता है कि वह केवल कवि का भाव न रहकर सबका भाव बन जाता है। फलतः पाठक काव्य की वेदना को अपनी वेदना मानकर उसमें तन्मय हो जाता है। कवि ने भाव-संप्रेषण की यह प्रक्रिया इतनी व्यापक बना दी है कि कवि और पाठक की अनुभूतियों में कोई अन्तर ही नहीं रह जाता। अतः काव्य की अभिव्यंजना को भाव संप्रेषण का पूर्ण सामर्थ्य प्राप्त होता है। अनुभूति और अभिव्यंजना की समस्त विशेषताओं को समझने के लिये हम 'आँसू' काव्य पर निम्नांकित-शीर्षकों में विचार कर सकते हैं :—

(१) 'आंसू' का आलंवन (विभाव पक्ष)

(२) 'आंसू' का भाव पक्ष

(३) 'आंसू' का कला पक्ष

आंसू का आलंबन :—

प्रसाद जी ने आंसू की रचना से पहले अपने 'झरना' काव्य में लिखा था।

"कर गई प्लावित तन-मन सारा
एक दिन तव अपांग की धारा

हृदय से झरना

बह चला जैसे दृगजल ढरना

प्रणय वन्या ने किया पसारा

कर गई प्लावित तन मन सारा।"

इन पंक्तियों में कवि ने कल्पना में डूबकर लौकिक और अलौकिक रूप को या तत्त्व को प्रणय के सूत्र में बांधने की चेष्टा की है। इसी सूत्र ने 'आंसू' में विस्तार पाया है। अतः उसका आलंबन लौकिक भी है और अलौकिक भी। किन्तु प्रधानता अलौकिक की ही है। कवि ने उस अलौकिक को बार-बार आंसुओं में डूब-कर अपना प्रणय अर्पित किया है। उसकी समस्त वेदना उस अलौकिक को सुधियों के माध्यम से अर्पित हुई है। कवि ने स्थूल के समस्त रूप में उसका प्रतिबिम्ब देखा है। चेतना की एक लहर उसे अग-जग में व्याप्त दिखाई दी है। उस लहर को उसने आंसुओं की धारा में पकड़ना चाहा है। निश्चय ही अभिव्यक्ति का आरम्भ-सूत्र ससीम नारी को आलंबन मानकर चला है। उसका मिलन-सुख कवि की स्मृतियों को बार-बार झकझोरता है। उस सुख का अभाव कवि को वेदना देता है। लेकिन वह ससीम नारी सूक्ष्म बनकर असीम में व्याप्त हो चुकी है। इसलिये कवि का आलम्बन भी असीम बन गया है। वह उस विराट् के साक्षात्कार के लिये अधीर हो उठा है—

"कुछ शेष चिह्न हैं केवल

मेरे उस महामिलन के।" ['आंसू' पृष्ठ ६]

या

"आती है शून्य क्षितिज से

क्यों लौट प्रतिध्वनि मेरी।" ['आंसू' पृष्ठ ८]

इन पंक्तियों में कवि के अलौकिक आलम्बन का आभास होता है। समस्त काव्य में कवि की स्मृतियां उसी अलौकिक से मिलने की छटपटाहट को लेकर चलती है, उसके हृदय में स्मृतियों की एक बस्ती सी बस जाती है। सृष्टि का समस्त विस्तार उसके आंसुओं में डूबने लगता है। निश्चय ही ऐसा सर्वव्यापी असीम आलम्बन 'आंसू' जैसे गीति काव्य की एक बहुत बड़ी विशेषता है। जिस काव्य के आलम्बन राम, कृष्ण या अन्य कोई ऐतिहासिक, पौराणिक पात्र हों उसकी रसानुभूति पाठकों का एक सीमित वर्ग ही कर पाता है। किन्तु आंसू काव्य आलम्बन की इस असीम व्यापकता के कारण संसार भर के सभी पाठकों को रसानुभूति करा सकता है।

भाव-पक्ष :—

आंसू में प्रसाद जी ने रति भाव की अभिव्यक्ति की है। रति के कई रूप होते

हैं यथा—नारी—विपयक रति, पुत्र-विपयक रति जो वात्सल्य कहलाती है, ईश्वर-विपयक रति जो भक्ति कहलाती है, प्रकृति-विपयक रति जो प्रकृति-प्रेम कहलाती है, देश विपयक रति जो देश-प्रेम कहलाती है। 'आँसू' में नारी-विपयक-रति और ईश्वर-विपयक-रति का चित्रण हुआ है। नारी-विपयक रति कवि की मूल अनुभूति है और ईश्वर विपयक रति उसकी रहस्यात्मक अनुभूति है। दोनों को स्त्री पुरुप और आत्मा-परमात्मा के दाम्पत्य-प्रणय-सम्बन्ध के रूप में देखा गया है। प्रसाद जी ने अपनी पत्नी का संयोग-सुख अपनी अनुभूति में कभी संचित किया था उसकी मृत्यु के पश्चात् वह संयोग-सुख वियोग-दुख में बदल गया। आँसू काव्य में यह वियोग-दुख विप्रलम्भ शृंगार के रूप में काव्य का मूल रस बनकर चित्रित हुआ है, और इस विप्रलम्भ शृंगार में लौकिकता से अलौकिकता धारण करके आत्मा-परमात्मा के वियोग की रहस्यात्मक अनुभूति का स्पर्श किया है। स्मृति के माध्यम से कवि ने रति भाव के संयोग पक्ष का भी प्रभावशाली चित्रण बीच-बीच में किया है, किन्तु यह चित्रण-प्रधान नहीं है, विप्रलम्भ शृंगार का पोपक बनकर ही प्रस्तुत हुआ है। लौकिक और अलौकिक रति-भेद भी स्पष्टत· अलग-अलग 'आँसू' में नहीं मिलता। रति भाव के संचारियों के चित्रण में लौकिकता से अलौकिकता की ओर सर्वत्र कवि का रतिभाव बढ़ता रहा है। यही कारण है कि प्रसाद जी ने अपनी करुणा को साधारणीकृत रूप में संसार की करुणा बना दिया है और अपने आँसुओं से जड़—चेतन को भिगो दिया है। हम यहाँ उनके द्वारा चित्रित रति के संयोग और वियोग पक्षों का गाम्भीर्य अलग-अलग उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करेंगे।

[१] संयोग—वर्णन :—प्रसाद जी ने अपनी प्रेयसी का स्मरण करके बीते हुए संयोग सुख का विस्तार से चित्रण किया है। आरम्भ में ही उन्होंने मिलन सुख की ओर संकेत किया है, जिसमें पूर्ण लौकिकता है—

"बाड़व ज्वाला सोती थी
इस प्रणय—सिन्धु के तल में
प्यासी मछली—सी आँखें
थीं विकल रूप के जल में।" ['आँसू' पृष्ठ १०]

आगे चलकर उन्होंने उस रूप का भी नखशिख वर्णन किया है, जिसने उन्हें संभोग रति के लिये अधीर किया—

"बाँधा था विधु को किसने
इन काली जंजीरों से
मणि वाले फणियों का मुख
क्यों भरा हुआ हीरों से ?"

काली आंखों में कितनी
यौवन के मद की लाली
मानिक मदिरा से भर दी
किसने नीलम की प्याली ? ['आंसू' पृष्ठ २१]

इस रूप से आकर्षित होकर प्रसाद जी ने जिस संभोग सुख का आनन्द प्राप्त किया उसका चित्रण उन्होंने इस प्रकार किया है—

"हिलते द्रुम-दल, कल किसलय
देती गलबांही डाली
फूलों का चुम्बन छिड़ती-
मधुपों की तान निराली ।

× × ×

मुरली मुखरित होती थी
मुकुलों के अधर विहंसते
मकरन्द भार से दब कर
श्रवणों में स्वर जा बसते ।" ['आंसू' पृष्ठ २६]

यही तक नही, प्रसाद जी ने संभोग के अन्तर्गत परिरम्भण आदि का भी चित्रण किया है। उन्होंने लिखा है—

"परिरम्भ कुम्भ की मदिरा
निश्वास मलय के झोंके
मुख चन्द्र चांदनी जल से
मैं उठता था मुंह धोके ।
थक जाती थी सुख रजनी
मुख चन्द्र हृदय में होता
श्रम सीकर सदृश नखत से
अम्बर पट भीगा होता ।" ['आंसू' पृष्ठ २७]

इसी लौकिक संभोग सुख को प्रसाद जी ने अलौकिक संभोग की रहस्यात्मक अनुभूति के रूप में भी विस्तार से 'आंसू' काव्य में चित्रित किया है। पृष्ठ १६ से २० तक वह अनुभूति भाव-गांभीर्य के साथ चित्रित हुई है। कुछ उदाहरण देखिये —

"बिजली माला पहने फिर
मुस्क्याता सा आँगन में
हाँ कौन वरसा जाता था
रस बूंद हमारे मन में ?
तुम सत्य रहे चिर सुन्दर
मेरे इस मिथ्या जग के
थे केवल जीवन संगी
कल्याण कलित इस मन के।" ['आँसू' पृष्ठ १६]

आगे कवि ने प्रियतम को मिलन के लिये स्वयं आता हुआ चित्रित किया है और उस संयोग सुख ने उसे कितना मस्त बना दिया है यह भी उसने स्पष्ट कर दिया है—

"कितनी निर्जन रजनी में
तारों के दीप जलाये
स्वर्गङ्गा की धारा में
उज्ज्वल उपहार चढ़ाये !
गौरव था, नीचे आये
प्रियतम मिलने को मेरे
मैं इठला उठा अकिंचन
देखे ज्यों स्वप्न सवेरे।" [आँसू' पृष्ठ १७]

और इस प्रकार प्रियतम का आगमन रहस्यात्मक अनुभूति के भीतर आत्मा परमात्मा के मिलन का बोध कराता है। उसने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

मधु राका मुस्क्याती थी
पहले देखा जब तुमको
परिचित से जाने कब के
तुम लगे उसी क्षण हमको। ['आँसू' पृष्ठ १७]

आगे चलकर उसने रहस्यात्मक अनुभूति का इन शब्दों में चित्रण किया है—

"परिचय राका जलनिधि का
जैसे होता हिमकर से

ऊपर से किरणें आती
मिलती है गले लहर से।
मैं अपलक इन नयनों से
देखा करता उस छवि को
प्रतिमा डाली भर लाता
कर देता दान सुकवि को।" ['आंसू' पृष्ठ १८]

कवि अपरिचित को परिचित बनाकर उसके संयोग सुख में अपनी आत्मा को कितना आनन्द-मग्न पाता है, इसका चित्रण उसने इस प्रकार किया है—

"निर्झर सा झिरझिर करता
माधवी कुंज छाया में
चेतना वही जाती थी
हो मन्त्रमुग्ध माया में। ['आंसू' पृष्ठ १८]

संयोग रति के लौकिक और अलौकिक चित्रण में कवि ने उल्लास, कुतूहल, जिज्ञासा आदि की अनेक अनुभूतियों को समाविष्ट कर लिया है। यथा-उल्लास और कुतूहल की अनुभूति इन पंक्तियों में झलक रही है—

"पतझड़ था, झाड़ खड़े थे
सूखी-सी फुलवारी में
किसलय नव कुसुम बिछाकर
आये तुम इस क्यारी में।
शशि मुख पर घूँघट डाले
अंचल में दीप छिपाये।
जीवन की गोधूली में
कौतूहल से तुम आये।" ['आंसू' पृष्ठ १९]

प्रेम की इस संयोग जन्य अनुभूति को कवि ने रहस्य चेतना के रूप में स्वीकार किया है। यह वह चेतना है जो वस्तुओं को रंग आभा और प्राणवत्ता प्रदान करती है। प्रसाद जी ने लिखा है—

"घन में सुन्दर बिजली-सी
बिजली में चपल चमक-सी
आंखों में काली पुतली
पुतली में श्याम झलक सी।" ['आंसू' पृष्ठ १९]

× × × ×

प्रतिमा में सजीवता-सी
बस गई सुछवि आँखों में
थी एक लकीर हृदय में
जो अलग रही लाखों में ।" ['आँसू' पृष्ठ २०]

कवि की यह रहस्यात्मक अनुभूति मन के इस विराट विस्तार तक पहुँची है—

"माना कि रूप-सीमा है
सुन्दर ! नव चिर यौवन में
पर समा गए थे, मेरे
मन के निस्सीम गगन में ।

× × ×

"लावण्य शैल राई-सी
जिस पर वारी बलिहारी
उस कमनीयता कला की
सुषमा थी प्यारी-प्यारी ।" ['आँसू' पृष्ठ २०]

इस प्रकार कवि का संयोग जन्य रति भाव लौकिकता से अलौकिकता की शाश्वत सौन्दर्यमयी दिव्य भूमि तक पहुँचा है। कवि की आत्मा उस अज्ञात, अपरिचित, चिर सुन्दर, प्रियतमा को अपना प्रणय समर्पित करके उसकी सुषमा पर बलिहार हो उठी है।

वियोग-वर्णन :—प्रसाद जी ने स्मृति के माध्यम से अपने लौकिक तथा अलौकिक प्रणय पात्रों के प्रति संयोगपक्षीय रति भाव का जिस प्रकार वर्णन किया है, उसी प्रकार गहरी वेदना में डूबकर वियोग जन्यरति भाव का विस्तार से चित्रण किया है। वास्तव में संयोगपक्षीय चित्रण इस वियोग पक्ष की गम्भीरता को उभारने के लिये ही प्रस्तुत हुआ है। सारा 'आँसू' काव्य लौकिक और अलौकिक विरह-वेदना से परिपूर्ण है। कवि को लौकिक प्रिया के देहावसान के कारण जो वेदना हुई है, वह उसके हृदय में असीम होकर हाहाकार कर उठी है। इसी से कवि ने काव्य का आरम्भ इन पंक्तियों से किया है—

"इस करुणा कलित हृदय में
अब विकल रागिनी बजती
क्यों हाहाकार स्वरों में
वेदना असीम गरजती ?" ['आँसू' पृष्ठ ७]

उसकी वेदना का स्वर सर्वत्र बिलखता टकराता है। 'आँसू' काव्य को जन्म देने वाली यह असीम वेदना इन पंक्तियों में प्रकट हुई है—

"आती है शून्य क्षितिज से
क्यों लौट प्रतिध्वनि मेरी
टकराती बिलखाती-सी
पगली सी देती फेरी ?" ['आँसू' पृष्ठ ८]

कवि को सारी प्रकृति अपनी व्यथा से परिपूर्ण दिखाई देती है। उसके भीतर विरह की जो आग जलती है, वह निरन्तर बढ़ती ही जाती है और उसके लिये दुर्दिन मे आँसू की वर्षा कर उठती है। वह लिखता है—

"जो घनीभूत पीड़ा थी
मस्तक में स्मृति सी छायी
दुर्दिन में आँसू बनकर
वह आज बरसने आयी।" ['आंसू' पृष्ठ १४]

ये आंसू कवि की ज्वालामयी जलन के स्फुलिङ्ग हैं और प्रेयसी के महामिलन के चिह्न मात्र प्रतीत होते है—

"ये सब स्फुलिङ्ग हैं मेरी
इस ज्वालामयी जलन के
कुछ शेप चिह्न हैं केवल
मेरे उस महा मिलन के।" ['आंसू' पृष्ठ ६]

कवि के हृदय में विरह की यह निरन्तर जलने वाली ज्वाला तापयुक्त नहीं है उसमें एक शीतल व्यथा है, दृग जल उसमें ईंधन का काम करता है और स्वासें हवा बनकर उसे बढ़ाती हैं—

"शीतल ज्वाला जलती है
ईंधन होता दृग जल का।
यह व्यर्थ सांस चल-चल कर
करती है काम अनिल का।" ['आंसू' पृष्ठ १०]

विरह की इस वेदना में कवि ने वियोग-पक्षीय विभिन्न संचारी भावों का भी सहारा लिया है। उदाहरण के लिये......."ये सब स्फुलिङ्ग हैं मेरी........उस महा-मिलन के" पंक्तियों में कवि ने स्मृति संचारी भाव व्यंजित किया है। निम्नांकित पंक्तियों मे भी स्मृति संचारी का सहारा लिया गया है—

"मादक थी मोहमयी थी
मन बहलाने की क्रीड़ा
अब हृदय हिला देती है
वह मधुर प्रेम की पीड़ा।" ['आँसू' पृष्ठ १२]

इसी प्रकार निम्नांकित पंक्तियों में ग्लानि का चित्रण हुआ है—

"बेसुध जो अपने सुख से
जिनकी हैं सुप्त व्यथाएँ
अवकाश भला है किनको
सुनने को करुण कथाएँ।" ['आँसू' पृष्ठ १३]

कवि को विरह वेदना के मध्य व्रीड़ा की भी अनुभूति हुई है, जो इन पंक्तियों में चित्रित हुई है—

"रो-रोकर सिसक-सिसक कर
कहता मैं करुण कहानी
तुम सुमन नोचते सुनते
करते जानी अनजानी।" ['आँसू' पृष्ठ १५]

प्रकृति के साथ कवि की विरह भावना का तादात्म्य काव्य में सर्वत्र मिलता है—

उदाहरणार्थ..................

"हीरे-सा हृदय हमारा
कुचला शिरीष कोमल ने।
हिमशीतल प्रणय अनल बन
अब लगा विरह से जलाने।" ['आँसू' पृष्ठ ३०]

× × ×

अलियों से आँख बचाकर
जब कंज संकुचित होते
धुँधली, सन्ध्या, प्रत्याशा
हम एक-एक को रोते।" ['आँसू' पृष्ठ ३०]

कवि की विरह-वेदना प्रकृति के माध्यम से असीम प्रणय-सत्ता के प्रति समर्पित हो जाती है इसके उदाहरण संश्लिष्ट रूप में तो सर्वत्र मिलते ही हैं, कहीं-कहीं

स्पष्ट शब्दावली में भी अपने प्रणय-पात्र को असीम व सर्व व्यापक स्वीकार किया गया है। इसलिये कवि की विरह-वेदना अत्यन्त व्यापक और विस्तृत परिवेश में चित्रित हुई है। यथा—

"शीतल समीर आता है,
कर पावन परस तुम्हारा।
मैं सिहर उठा करता हूँ,
बरसा कर आँसू-धारा। ['आँसू' पृष्ठ ३६]

उसने आगे लिखा है—

"नाविक! इन सूने तट पर
किन लहरों में ले लाया?
इस बीहड़ वेला में क्या
अब तक था कोई आया?" ['आँसू' पृष्ठ ४०]

× × ×

"प्रत्यावर्तन के पथ में
पद-चिह्न न शेष रहा है।
डूबा है हृदय मरुस्थल
आँसू नद उमड़ रहा है।" ['आँसू' पृष्ठ ४१]

उसने वेदना को सर्वव्यापक बनाकर जीवन को ही दुखमय मान लिया है और लिखा है—

"वेदना विकल घिर आई
मेरी चौदहों भुवन में
सुख कहीं न दिया दिखाई
विश्राम कहाँ जीवन में? ['आँसू' पृष्ठ ५३]

वेदना की यह सर्वव्यापकता अन्त में सार्वभौमिक मंगल-भावना मे परिवर्तित हो गई है और कवि ने लिखा है—

"चुन-चुन ले रे कन-कन से
जगती की सजग व्यथाएँ।
रह जायेंगी कहने को
जन-रंजन-करी कथाएँ। ['आँसू' पृष्ठ ५८]

"निर्मम जगती को तेरा
मंगलमय मिले उजाला
इस जलते हुए हृदय की
कल्याणी शीतल ज्वाला !" ['आँसू' पृष्ठ ६३]

प्रसाद जी वियोग का चित्रण करने वाले अन्य हिन्दी कवियों के समान प्रकृति और जगत के प्रति कठोर रहना नहीं चाहते, वे अपने हृदय की वेदना को सहृदयता के रूप मे परिणत कर देना चाहते हैं। उन्होंने लिखा है—

"वेदना मधुर हो जावे
मेरी निर्दय तन्मयता।
मिल जावे आज हृदय को
पाऊँ मैं भी सहृदयता।" ['आँसू' पृष्ठ ६१]

प्रकृति चित्रण :—प्रसाद जी ने 'आँसू' काव्य में अन्तर्वाह्य प्रकृति का सांश्लिष्ट चित्रण किया है। इसलिए उनका प्रकृति चित्रण चेतना की एक असीम लहर से आप्लावित हो उठा है। बहिर्प्रकृति को जिसका यहाँ प्रकृति चित्रण से तात्पर्य है-प्रभाव और रूप दोनों प्रकार से इस काव्य में स्थान मिला है।

आरम्भ के छन्द में ही हृदय की वेदना और तज्जन्य वेदना को प्रकृति के प्रभाव-चित्रण के साथ संश्लिष्ट कर दिया है। हृदय में उमड़ती हुई वेदना को गरजता हुआ बताकर प्रकृति में गरजकर उमडते हुए नद या सूने आकाश में गरज कर घिरते हुए मेघ के प्रभाव से सश्लिष्ट कर दिया गया है—

"इस करुणा कलित हृदय में
अब विकल रागिनी बजती
क्यों हाहाकार स्वरों में
वेदना असीम गरजती !" ['आँसू' पृष्ठ ७]

प्रकृति के प्रभाव और रूप दोनों का अन्त: प्रकृति से संश्लेषण निम्नांकित पंक्तियों में किया गया है—

"बस गई एक बस्ती है
स्मृतियों की इसी हृदय में
नक्षत्र-लोक फैला है
जैसे इस नील निलय मे। ['आँसू' पृष्ठ ९]

अलंकार रूप में प्रकृति को कवि के भावों के साथ सर्वत्र प्रस्तुत रहना पड़ा है। उदाहरण के लिये उपमा और रूपक अलंकारों के साथ जुड़ी हुई व्योम गंगा और मृदुल लहरें लेने वाली तरंगिनी इन पंक्तियों में प्रस्तुत हुई है—

"क्यों व्यथित व्योम-गंगा-सी
छिटकाकर दोनों छोरें
चेतना तरंगिनी मेरी
लेती है मृदुल हिलारें। ['आंसू' पृष्ठ ८]

इसी प्रकार प्रकृति के विभिन्न रूपों को प्रतीक-विधान के लिये भी चुना गया है और ऐसे स्थलों पर सारी प्रकृति अत्यन्त सजीव और सहानुभूतिपूर्ण हो उठी है। निम्नांकित पंक्तियों में 'माधवी कुंज' शब्द प्रिय का प्रतीक बन कर उसके उसी रमणीय सौन्दर्य का आभास देता है। निर्झर आदि के ध्वनि-चित्र के साथ कवि ने लिखा है—

"निर्झर-सा झिर-झिर करता
माधवी-कुंज छाया में।
चेतना वही जाती थी
हो मंत्र मुग्ध माया में।" ['आंसू' पृष्ठ १८]

कवि ने समस्त प्रकृति को विराट् रहस्य सत्ता के प्रणय-भाव से सम्बन्धित कर अनेक सजीव चित्र उपस्थित किये हैं। उदाहरणार्थ.......

"परिचय राका जलनिधि का
जैसा होता हिमकर से
ऊपर से किरणें आतीं
मिलती हैं गले लहर से।" ['आंसू पृष्ठ १८]

प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण के अनेक ऐसे सूक्ष्म चित्र इस काव्य में मिलते हैं, जिससे कवि की भावराशि समृद्ध हुयी है। यथा—

"विकसित सरसिजवन वैभव
मधु ऊषा के अंचल में।
उपहास करावे अपना
जो हँसी देख ले पल में।" [आंसू पृष्ठ २३]

प्रसाद जी को निशा के चित्रण में विशेष अभिरुचि रही है—'कामायनी' में पर्याप्त विस्तार से उन्होंने रजनी का चित्रण किया है। 'आँसू' में भी वे निशा से अत्यन्त आत्मीयता के साथ बातीचीत करते मिलते हैं। यथा·······

"निशि सो जावे जब उर में
ये हृदय व्यथा आभारी
उनका उन्माद सुनहला
"सहला देना सुखकारी।" ['आँसू पृष्ठ ५४]

× × × × × ×

"तुम स्पर्शहीन अनुभव सी
नन्दन तमाल के तल से
जग छा दो श्याम लता सी
तन्द्रा पल्लव विह्वल से।" ['आँसू' पृष्ठ ५४]

इन पंक्तियों में निशा का मानवीकरण, कवि के भावों से उसके प्रभाव का तादात्मय, और उसके रूप-सौन्दर्य का ग्रहण तीनों ही बातें स्पष्ट झलकती है। आगे निशा से बातचीत करते हुए कवि ने लिखा है—

"सपनों की सोनजुही सब
बिखरें, ये बन कर तारा।
सित सरसिज से भर जावे
वह स्वर्गंगा की धारा।" ['आँसू पृष्ठ ५४]

× × × × × ×

नीलिमा शयन पर बैठी
अपने नभ के आँगन से
विस्मृति का नील नलिन रस
बरसे अपाङ्ग के घन से।' ['आँसू' पृष्ठ ५५]

इसी प्रकार प्रकृति के अन्य रूपों का भी अत्यन्त प्रभावशाली सचेतन सौन्दर्य 'आँसू' में चित्रित हुआ है। अनेक स्थानों पर प्रकृति के रंगीन चित्र आँखों पर आ आते हैं। यथा-निम्नांकित पंक्तियों में आकाश में जलते हुए शशि और नीचे बहती नदी के किनारे खड़े हुए दर्शक का यह चित्र—

"जैसे सरिता के तट पर
जो जहां खड़ा रहता है,
विधु का आलोक तरल पथ
सम्मुख देखा करता है।" ['आंसू' पृष्ठ ७२]

समुद्र का पूर्ण चन्द्र को छूने के लिये ललचाना और लहरों में कोलहाल भर कर उठना गिरना अत्यन्त सजीव रूप से निम्नांकित पंक्तियों में चित्रित हुआ है। इसमें रूप ही नहीं क्रिया और ध्वनि को भी शब्दों में बांध दिया गया है।

"देखा बौने जलनिधि का
शशि छूने को ललचाना।
वह हाहाकार मचाना,
फिर उठ-उठ कर गिरजाना" ['आंसू' पृष्ठ ७७]

कलियों पर गुंजन करते भौरों का रस पीकर उड जाने का छल कवि ने इस प्रकार शब्दों में बांधा है—

"कलियों को उन्मुख देखा
सुनते वह कपट कहानी
फिर देखा उड जाते भी
मधुकर को कर मनमानी।" ['आंसू' पृष्ठ ७८]

इस प्रकार के अनेक चित्र जिनमें प्रकृति और जीवन स्थूल और सूक्ष्म दोनों रूपों में घुले मिले चित्रित मिलते हैं, 'आंसू' काव्य मे भरे पड़े है। प्रसाद जी ने प्रकृति को केवल ऊपर से ही नहीं, उसके अन्तर्तम में भी झांक कर देखा है और बात बात में मानव जीवन की विभिन्न दशाओं से उसकी तुलना की है। इसलिए 'आंसू' काव्य का समस्त प्रकृति-चित्रण भाव सौन्दर्य के अपार वैभव से परिपूर्ण है।

कला पक्ष : भाव-पक्ष के समान ही 'आंसू' का कलापक्ष भी अनेक नई विशेषताओं से समृद्ध है।

गीति-काव्य की शैली में इसकी रचना हुई है। यद्यपि इसमे कोई कथा नहीं है, फिर भी भाव के विकास में एकसूत्रता मिलती है। इसलिये हम इसे एक भाव प्रधान खंड काव्य कह सकते हैं। इस काव्य की भाषा तत्सम शब्दावली प्रधान खडी बोली हिन्दी है। शब्दों का प्रयोग लाक्षणिक और व्यंजनात्मक रूप में हुआ है। भावों के अनुकूल कोमल कांत पदावली भाषा की प्रभावोत्पादकता में वृद्धि करती है।

शब्दों के द्वारा भावों के खंड चित्र मानस पर सहज में उतर आते है सौन्दर्य और ध्वनियों को भी कहीं-कही शब्दों में बाँध दिया गया है। कवि ने भाषा में सहज माधुर्य और प्रसाद गुण लाने के लिये अलंकारों की सहायता भी ली है। शब्दों की लाक्षणिकता और व्यंजकता जहाँ एक ओर भाषा के अर्थ-गांभीर्य को बढ़ाती है, वहाँ दूसरी ओर अलंकारों की स्वाभाविकता को भी जन्म देती है। प्रथम छन्द से ही अलंकार और लाक्षणिकता का मिश्रित रूप भाषा में आरम्भ हो जाता है। साध्यवसाना लक्षणा के साथ उपमा आदि का सुन्दर योग इन पंक्तियों में दृष्टव्य है।

"निर्झर-सा झिरझिर करता
माधवी कुंज छाया में।
चेतना वही जाती थी,
हो मंत्र-मुग्ध माया में।" ['आँसू' पृष्ठ १८]

इसमें माधवी कुंज उपमान तो प्रस्तुत है, किन्तु उपमेय 'प्रिय' का लोप है जिससे साध्यवसाना लक्षणा अपना चमत्कार दिखा रही है। इसी प्रकार निम्नांकित पंक्तियों में अगूढ़ प्रयोजनवती लक्षणा भी अलंकार के माध्यम से अपना सौन्दर्य भाषा को अर्पित कर रही है।

"बाँधा था विधु को किसने
इन काली जंजीरों से
मणि वाले फणियों का मुख
क्यों भरा हुआ हीरों से ? ['आँसू' पृष्ठ २१]

यहाँ विधु उपमेय मुख का उपमान है और 'काली जंजीरों' पद का प्रयोग केश के अर्थ में हुआ है। मुख का कथन न करके केवल रूप में अध्यवसान किया गया है। प्रसाद जी ने अलंकारों के प्रयोग में स्वच्छन्दता अपनाई है। उनकी उपमाएँ अनेक प्रकार से नवीनता प्रकट करती हैं। उन्होंने कहीं तो स्थूल के लिये स्थूल उपमान प्रस्तुत किए हैं, यथा—

"काली आँखों में कितनी
यौवन के मद की लाली।
मानिक मदिरा से भर दी
किसने नीलम की प्याली ?" ['आँसू' पृष्ठ २१]

और कहीं पर स्थूल के लिये सूक्ष्म उपमानों का प्रयोग किया है। कहीं-कहीं पर सूक्ष्म के लिये स्थूल उपमानों का प्रयोग भी मिलता है। उपमा और रूपक अलंकार

कवि को विशेष प्रिय लगे हैं । उपमा अलंकार के उदाहरण तो पृष्ठ-पृष्ठ पर मिल जाते हैं । यथा—

"अभिलाषा के मानस में
सरसिज-सी आँखें खोलो ।
मधुपों से मधु गुंजारो,
कलरव से फिर कुछ बोलो ।" [पृष्ठ ६५]

रूपक अलंकार कवि ने बहुत सुन्दरता से प्रयुक्त किया है । यथा—

"मुख कमल समीप सजे थे
दो किसलय से पुर इन के
जल बिन्दु सदृश ठहरे कब
उन कानों में दुख किनके ? ['आँसू' पृष्ठ २३]

अधिकांशतः उपमा और रूपक एक साथ मिलकर भाषा का सौन्दर्य बढ़ाते हैं । यथा—

"इस गगन यूथिका वन में
तारे जूही से खिलते ।
सित शतदल से शशि तुम
उनमें जाकर हो मिलते ?" ['आँसू' पृष्ठ ४४]

अन्य अलंकारों में प्रसाद का प्रिय अलंकार 'उदाहरण' है । यथा—

"बस गई एक बस्ती है
स्मृतियों की इसी हृदय में
नक्षत्रलोक फैला है
जैसे इस नील निलय में ।" ['आँसू' पृष्ठ ६]

शब्दालंकारों का प्रयोग तो हर छन्द में अपना सौन्दर्य विखेरता मिलता है । अनुप्रास अलंकार की छटा निम्नांकित पंक्तियों में द्रष्टव्य है ।

(१) "अंबर असीम अंतर में
चंचल चपला से आकर ['आँसू' पृष्ठ ३५]
× × ×

(२) मकरन्द मेघमाला सी
वह स्मृति मदमाती आती ।
× × ×

(३) सोते सुकुमार सदा जो
पलकों की सित छाया में । [पृष्ठ ७१]

प्रसाद जी ने 'आँसू' काव्य की रचना 'आनन्द' नामक छन्द में की है । इस छन्द में प्रत्येक छन्द में चौदह मात्राएँ होती हैं । अंत में तुक मिलाई जाती है और उसमें दीर्घ वर्णों का प्रयोग होता है । यह छन्द कोमल और दीर्घ भावनाओं की अभिव्यक्ति में बहुत समर्थ रहता है । प्रसाद जी का यह प्रिय छन्द है । अपनी कोमल भावनाओं और कल्पनाओं की अभिव्यक्ति के लिये इसी कारण उन्होंने इस छन्द को 'आँसू' में प्रयुक्त किया है ।

उपसंहार—'आँसू' काव्य का विभाव भाव और कला पक्ष की दृष्टि से हमने जो विवेचन किया है उससे यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि यह काव्य केवल वैयक्तिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति तक ही सीमित नहीं है । कवि ने व्यष्टि को समष्टि में परिवर्तित करके भाव की अत्यन्त उदात्त भूमि का स्पर्श किया है । वह अखिल लोक का प्राणी बन गया है । उसकी आत्मा ब्रह्म के विराट स्वरूप की अनुभूति से तादात्म्य कर उठी है । उसकी करुणा ने विश्व-मंगल का रूप धारण कर लिया है । इसलिए निराशावादी भावनाओं तक ही इस काव्य का वर्ण्य-विषय सीमित नहीं है, अपितु निराशा के परिष्कार में भी उसका अत्यधिक योग है । हिन्दी भाषा में खड़ी बोली के काव्य रूप को इस काव्य ने समृद्ध बनाया है । अलंकार व छन्द की नवीनता भी इस काव्य की बहुत बड़ी विशेषता है । निश्चय ही गीति काव्य परम्परा में 'आँसू' एक शाश्वत काव्य के रूप में सदैव स्मरण किया जाता रहेगा ।

: १६ :

परम्परा-बोध और कवि

काव्य का सर्जन अनुभूति और कल्पना की सामञ्जस्य पूर्ण भूमि पर होता है। प्रतिभा उस भूमि का संघटन-सूत्र पहचानती है, अतः बुद्धि एक अन्तर्व्याप्त तत्व के रूप में उस भूमि में स्वतः आ जाती है। कवि का दायित्व होता है कि वह जो अनुभूतियां जीवन और उसके समस्त परिवेश से संचित करता है, उन्हें संश्लिष्ट विम्बों और व्यापक अर्थ देने वाले प्रतीकों के माध्यम से इस प्रकार अभिव्यक्त करे कि वे जीवन का समग्र सत्य प्रस्तुत कर सकें। अपने इस दायित्व के निर्वाह के लिए वह भोगे हुए काल के प्रति तो सचेत रहता ही है, जिस काल में जी रहा है, उसके प्रति भी पूरी ईमानदारी से सचेत रहता है। उसकी यह ईमानदारी चिन्तक की ईमानदारी से भिन्न है। कवि होने के कारण वह जीवन के हर पर्त का भोगा हुआ सत्य प्रामाणिक रूप में चिन्तक के लिए प्रस्तुत करता है, (पाठक के लिए करता ही है)। अतः वह अपने समय के जीवन को जब देखता है, तब एक भोक्ता के रूप में देखता है, एक तटस्थ समीक्षक के रूप में नहीं देखता। इसका परिणाम यह होता है कि अपने समय का ईमानदार कवि न तो अपने समय के जीवन को जीने और भोगने की दृष्टि से देखे बिना काव्य का रूप दे सकता है, न देना उचित समझता है। साथ ही वह अतीत जीवन को इतिहास, धर्म, दर्शन, मनोविज्ञान आदि की आंखों से देखकर उसे अपने भोगे हुए समय का अंग मानकर अपने पाठक या चिन्तक के साथ छल भी नहीं कर सकता है।

उसका बुद्धि तत्त्व अतीत को देखता अवश्य है, किन्तु अनुभूति और कल्पना की प्रधानता के कारण वह भोगे जाने वाले आधुनिक जीवन-सत्य को काव्य से अपदस्थ नहीं कर पाता। अतः हर ईमानदार कवि, जो अपने काव्य के प्रति आधुनिक बोध की ईमानदारी निभाता है, किसी भी स्थूल परम्परा का भारवाही नहीं बन सकता। चिन्तक की बौद्धिक शंकाएँ अपनी किसी भी संहिता के बल पर उसे 'आधुनिक' से—उस जीवन से जिसे वह भोगता या जीता है—उदासीन नहीं बना सकती।

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि अपने युग के प्रति ईमानदार रहने वाला कवि अनुभूत सत्य की सीमाओं में बँधा रहने के कारण अतीत या भविष्य से किसी कारण कट जाता है अथवा किसी भी परम्परा से उसका कोई नाता ही नहीं रहता।

वस्तुस्थिति यह है कि वह चिन्तक की भूमि पर अतीत या भविष्य से अपने वर्तमान को नहीं जोड़ता, अपितु जो कुछ अनुभव करता है, उसी में वह अतीत और भविष्य की जीवन-यात्रा के सूत्र सँजोता है। इसीलिए वह परम्परा को पीछे मुड़कर, अपनी काव्य-भूमि पर आमन्त्रित करने में आधुनिक को खो देने की भूल नहीं करता, न भविष्य की कल्पनाओं में डूबकर ही आधुनिक की अनुभूतियों को अतीत के लिए अनभिव्यक्त छोड़ देना चाहता है। उसका लक्ष्य समसामयिकता का ही वह परिवेश होता है, जिसमें अतीत बीज रूप में और भविष्य अकुर रूप में छिपे रहते हैं। सम-सामयिक काव्य-बोध के भागीरथ कवि की समस्त सर्जना अतीत से भविष्य तक परम्परा को इसी रूप में अपनी अनुभूति में संजोती है। अतः जो लोग कवि द्वारा अनुभूत जीवन को जी रहे होते हैं, वे उसे न तो परम्परा-विरोधी मानते हैं, न उसकी अभिव्यक्ति में समसामयिक सत्यों की कहीं उपेक्षा ही देखते हैं। किन्तु, जो लोग न तो कवि हैं न उसके परिवेश के साधारण जीवन-भोक्ता है, केवल चिन्तक के रूप में जो बुद्धि की दुहाई देते हैं, वे यह नारा लगाते हैं कि अमुक कवि परम्परा से कट गया है, वह परम्परा का विरोध करके एक ऐतिहासिक अपराध कर रहा है।

जैसा कि मैंने पहले कहा, ऐसा इसलिए होता है, क्योंकि चिन्तक तटस्थ होकर जीवन की धारा को देखता है, अतः उसे यही लगता है कि हरद्वार और काशी की गंगा में कोई अन्तर नहीं है। वह यह भूल जाता है कि स्वयं काशी की एक क्षण की गंगा भी दूसरे क्षण की गंगा से भिन्न है। वह धारा के जल के बदलते हुए आन्तरिक रूपों से परिचित नहीं होना चाहता, क्योंकि वह तो अपनी बुद्धि से केवल उन्हीं तथ्यों को देख कर धारा की अभिन्नता का अनुमान लगा लेता है, जो तथ्य स्थूल रूप में धारा के साथ निरन्तर चले आ रहे हैं। यही कारण है कि वह जीवन-धारा के क्षण-क्षण बदलते हुए आन्तरिक स्वरूप की किसी भी स्थिति से अवगत नहीं हो पाता। अगर कवि उस स्वरूप को अपनी अनुभूति के बल पर धारा के ऊपर—स्थूल पर—उभार कर रख सके—तो वह उसे भी अपनी जीवन दृष्टि में सम्मिलित कर सकता है। परन्तु हुआ यह है कि भारतीय साहित्य में हर ईमानदार कवि पर परम्परा-विरोध का आरोप लगाया जाता रहा है। फलतः अनेक कवि परम्परा से भयभीत अतीतोन्मुख हुए हैं और वर्तमान को भूलते रहें हैं।

हमारे चिन्तन में जो जीवन तत्व आए, वे उन्हीं जीवन-तत्वों का बौद्धिक विकास मात्र रहे, जिन्हें सुदूर अतीत के कुछ कवियों ने अपने समय में जीकर, भोग कर, उभारा था। किन्तु वे सत्य उन्हीं के समय के परिवेश तक सीमित थे, आगे के समय के परिवेश से उत्पन्न कैसे माने जा सकते थे। परन्तु माने गए। भारतीय काव्य के इतिहास में ऐसी भूलें अनेक बार हुईं। इसके लिए वे कवि उत्तरदायी है, जो चिन्तक के निर्देश पर चल कर अतीत के मुखापेक्षी बने और समसामयिकता के नाम

पर अतीत की पुनरावृत्ति की। चिन्तक को अपना शासन बनाकर अतीत के सत्यों की स्थूल परम्परा इतिहास, संस्कृति, धर्म, दर्शन, शास्त्र आदि के नाम पर मानने का अवसर मिला। इसका परिणाम यह हुआ कि हमारी पर्याप्त कविता अर्थहीन शब्दावली में अतीत के संस्कारों का शव परम्परा के नाम पर लादे हुए गाती रही और ऐसी समस्त कविता हर वर्तमान को आगे की पीढ़ी के लिए एक दूसरा शव बनाती रही। आज का हिन्दी कवि इसके लिए तैयार नहीं है। वह इतिहास, धर्म, दर्शन, शास्त्र, आदि किसी भी क्षेत्र के चिन्तक की आंखों से अपने जीवन को नहीं देखता, न वह ऐसे अतीत की परम्परा मानकर ही जीना चाहता है। यों वह अतीत की स्थूल परम्पराओं के शवों से दूर जा खड़ा हुआ है। वह किसी भी सत्य को केवल इसलिए सत्य मानने के लिए तैयार नहीं है क्योंकि उसे 'वेद' से 'साकेत' तक के कवि सत्य बताते आए हैं। वह तो अपने समय के जीवन में उतर कर उसके समस्त परिवेश को अनुभव के माध्यम से वाणी देना चाहता है, भले ही वह परिवेश कोई ऐसा सत्य प्रस्तुत करे जो वेद' से 'साकेत' तक की समस्त परम्परा का विरोधी सिद्ध होता हो।

प्रश्न है, तब क्या वह अपने समस्त अतीत का—इतिहास, धर्म और दर्शन का—विरोध करके अपनी जाति के साथ अपराध नहीं करता है? चिन्तक तो यही कहेगा कि 'हां, अपराध करता है, क्योंकि वह सत्य की एक विराट परम्परा को झुठ-लाता है, नकारता है। परन्तु वस्तु-स्थिति यह नहीं है। आज के कवि के कृतित्व का हर प्रबुद्ध पाठक भी यह उद्घोष करने को उद्यत है कि परम्परा के नाम पर जिन सत्यों का समथन किया जाता है, वे सभी हमारे आधुनिक जीवन के जीवंत सत्य नही है, इसलिए वे हमारी जीवंत परम्परा के बोध का भी अंग नहीं हो सकते। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि आज का कवि अतीत का वास्तव मे विरोधी है। बात उलटी है। जो लोग स्थूल परम्परा के समर्थक हैं, वे ही वास्तव में अतीत के भी विरोधी हैं,क्योंकि वे वर्तमान से उसे काटकर पंगु बनाते है और उसके लिए कोई भविष्य भी नहीं छोड़ते। वे इस कठोर सत्य को समझ नहीं पाते, क्योंकि वे जीवन में परम्परा को वास्तविक संदर्भ और अर्थ में नहीं समझना चाहते।

आज का कवि परम्परा के जीवन्त रूप का विधाता है। वह इस रहस्य को पूरी ईमानदारी से समझता है कि परम्परा वहीं तक परम्परा रहती हैं, जहां तक वह जीवित होकर आगे बढ़ती है। अतः वह परम्परा को जब ग्रहण करता है, तब उसके ऊपर से इतिहास, दर्शन, धर्म, शास्त्र आदि के समस्त जड़ आवरणों को हटा देता है।

उसकी दृष्टि में परम्परा का यह अर्थ नहीं है कि वर्तमान अतीत का अनुकरण करे तथा भविष्य के लिए कोई स्वच्छन्द मार्ग न छोड़ जाय। न उसका यही अर्थ है कि व्यक्ति अपने विकास के लिए किसी बाह्य धारा में बह चले। जहां वह धारा रुके, वह रुक जाय तथा जहां धारा सूखे या सड़े वहां वह भी सूखे अथवा सड़ जाय। यदि

ऐसा होना स्वीकार कर लिया जाय, तब तो निश्चय ही परम्परा मानव-विकास की सभी संभावनाओं को समाप्त कर देगी। व्यक्ति अतीत के रस से आत्म सिंचन करके भविष्य की परम्पराओं की नींव डालने के स्थान पर स्वयं अतीत की जड़ परम्पराओं की खाद बन जाएगा। अतः आज का कवि मानता है कि परम्परा जड़ अतीत की निष्ठा में नहीं चेतन अतीत और उसकी देन समसामयिकता में निहित रहती है। यों वह किसी बाहर ज्ञान या वर्ग के उपदेश का विषय नहीं बन सकती, व्यक्ति की आत्म-निष्ठा से उसका विकास होता है।

आज का कवि यह—स्पष्ट घोषणा करता है कि परम्परा अतीत का इतिहास मात्र नहीं है, इतिहास की पुनरावृत्ति भी नहीं है, वह जीवन का एक निरन्तर विकास-शील जीवन्त क्रम है, जीवन की नैरंतरिक प्रगति का जीवित प्रयोग है। बने हुए पद-चिन्हों पर खड़े रहना परम्परा नहीं है, नए पद-चिन्हों के लिए उनके जीवन्त तत्वों का नए नए रूपों में प्रयोग करना ही वास्तविक परम्परा है। इसीलिए आज का कवि निरन्तर नए का अन्वेषी बनकर जीवन को भोगता है, देखता है, समझता और जीता है। और यों वह परम्परा के उस अर्थ को भी पुनर्जीवित करता है, जिसे मृत परम्प-राओं के शव-वाहकों ने अतीत के सुदूर हाथों में अज्ञान-वश अर्पित कर दिया था।

आज का कवि कहता है कि परम्परा जीवन की स्थूलता में अपना कोई अर्थ नहीं रखती। स्थूल जीवन तो घटना होता है, उपदेश बनता है, इतिहास और शास्त्र तक सीमित रहता है। उसमें परम्परा को गति और जीवन्तता कहाँ मिल सकती है? साहित्य या काव्य की ही भूमि ऐसी है, जो परम्परा को जीवित रखती है। इसलिए आज का कवि कहता है कि इतिहास की घटनाएँ या ऋषियों के उपदेश हमारी परम्परा का अतीत-अंश हैं, वर्तमान परम्परा तो वह बिजली है, जो उन घटनाओं और उपदेशों में कौंधती हुई आगे आई है। वह एक ऐसा चेतना सूत्र है, जो साहित्य की मानसी भूमि पर रगड़ खाता हुआ जीवन्त विकास तत्वों को आगे ले आया है। निश्चय ही आज का अर्थात् वर्तमान का ही नहीं, हर अतीत और भविष्य का ईमानदार कवि वही है, जो परम्परा की आगे की बिजली को अपनी अनुभूति से उत्पन्न करता है। यों जीवन्त परम्परा हर कवि की मानसी सृष्टि को अपने युग-जीवन के सत्य से जोड़ती और अनुप्राणित करती जाती है। आज भी जो कवि ऐसा कर रहे हैं, वे ही वास्तव में "आज के कवि" हैं और वे ही परम्परा के चेतन अंश को विक-सित तथा प्रवाहित करने में समर्थ कहे जा सकते हैं। ऐसे ही कवियों पर किसी भी युग का जीवन गर्व कर सकता है।

: १७ :

प्रयोगशील नयी कविता के तीन चरण

आधुनिक हिन्दी साहित्य में तीन शब्द आलोचकों के लिए विशेष विवादास्पद बने हुए हैं—'प्रयोग', 'नया' और आधुनिकता। ये तीनों शब्द एक साथ साहित्य में अपने-अपने नए अर्थःबोध को लेकर नहीं आए, उनके आगमन का क्रम भी वही है, जिस क्रम से वे लिखे गए हैं। इसीलिए 'आधुनिकता' शब्द अपेक्षाकृत जितना नया है, उतना ही आज अधिक विवाद का विषय बना हुआ है। यों विवाद किसी भी बात पर अच्छा नहीं होता, फिर साहित्य के अर्थ को किसी शब्द में खोजने के लिए किया गया आग्रह-ग्रस्त विवाद तो सबसे अधिक अशुभ होता है। इन शब्दों के साथ किया गया विवाद किस सीमा तक हास्यास्पद है, इसका अनुमान इसीसे लगाया जा सकता है कि हिन्दी के मूर्धन्य आलोचक भी अब तक 'प्रयोग' को काव्य के रूप और शिल्प तक सीमित करते आ रहे हैं, और 'नया' को आयु तथा काल से जोड़ते हैं। उदाहरणार्थ आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी जब 'नया' शब्द पर साहित्य के संदर्भ में विचार करते हैं, तो पूछते हैं कि "आज का साहित्य यदि 'नया' है, तो २० वर्ष बाद लिखा जाने वाला साहित्य क्या कहलाएगा? क्या वह नया न होगा? और, यदि वह 'नया' होगा, तो क्या उस समय आज का साहित्य पुराना न होगा? या, हम पुराने लोग जो कुछ लिख रहे हैं, यह यदि पुराना है तो क्या २० वर्ष पश्चात् आज के नवयुवक लेखक पुराने नहीं पड़ेंगे?" [१] स्पष्ट है कि वाजपेयी जी 'नया' शब्द को आयु और काल के संदर्भ मे ही समझना चाहते हैं। डा० रामकुमार वर्मा, नगेन्द्र आदि ने भी कई बार 'नया' शब्द के अर्थ को इन्हीं सदर्भों में स्पष्ट करना चाहा है। 'आधुनिकता' की व्याख्याएँ तो और भी अधिक अटपटी और मनोरंजक हो रही हैं। परिणाम् यह हुआ है कि केवल आलोचक ही नहीं, अनेक नए कवि भी 'प्रयोग' 'नया' और 'आधुनिकता' के अर्थ बोध की गहराई तक न पहुँच कर आज की कविता को रूप और शिल्प के चमत्कार तक सीमित कर रहे हैं। किन्तु, प्रयोगशील कविता के आरम्भ से अब तक की कविता का विकास यदि तटस्थ और आग्रहहीन होकर

---

१ डा० देवराज उपाध्याय तथा लेखक द्वारा गवर्नमेण्ट कालेज अजमेर में आयोजित एक उपनिषद् में वाजपेयी जी के विचार।

समझा जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रयोग, नया और आधुनिकता शब्दों के वे अर्थ नहीं हैं, जो प्रायः वाद-विवाद में उलझे मिलते हैं। वस्तुतः सन् ४३ के पश्चात् जो कविता प्रयोगवाद के नाम से आरम्भ हुई, वह 'वाद' की कविता नहीं थी। उसने प्रयोग, नया और आधुनिकता के तीन सोपानों से होकर अपना विकास किया है। ये तीन शब्द भी 'वस्तु' नहीं, 'नाम' हैं। 'वस्तु' तो वह कथ्य है, जिस को ये नाम दिए गए हैं। यही कारण है कि मैं प्रयोगवाद से 'वाद' शब्द हटाकर प्रयोग, नया और आधुनिकता के तीन विकास विन्दु आज की कविता में स्पष्टतः स्वीकार करता हूं। मैं मानता हूँ कि आज की कविता, वह प्रयोगशील कविता है, जो आरम्भ में नए-नए प्रयोग करती रही, ताकि नई राहों का अन्वेषण हो, फिर उसे नई राहों के अन्वेषण से उन राहों पर चलने पर जो सत्य मिला वह 'नया' था, किन्तु अभी वह पुरानी स्थिति में ही था। आधुनिकता ने उसे नई स्थिति प्रदान की है। यों प्रयोग से आधुनिकता तक की दृष्टि एक समग्र दृष्टि है, जो एक क्रम-बद्ध अर्थ में अभिव्यक्त हुई है। हम प्रयोग, नया और आधुनिकता के सही अर्थों को समझलें तो यह क्रम भी स्वतः स्पष्ट हो जाता है।

मैं मानता हूँ कि ४३ से ५१ तक की आधुनिक कविता में प्रयोग है शिल्प का ही नहीं, कथ्य का भी और वह कथ्य क्या है ?

प्रयोगशील कवियों ने ४३ के आस-पास गम्भीरता से यह अनुभव किया कि कविता अनुभूति की अभिव्यक्ति है। अनुभूति व्यक्ति को होती है समाज को नहीं अतः व्यक्ति को खोजकर ही उसकी और समाज की अनुभूति को भी पहचाना जा सकता है। जीवन का सबसे बड़ा सत्य व्यक्ति है। ४३ से पूर्व काल तक के सभी हिन्दी कवियों ने उस सत्य व्यक्ति को अपनी कविता में प्रस्तुत नहीं किया था। वे ऊपर छाए हुए कुल-परिवार, धर्म-दर्शन, देश-राष्ट्र, जाति-समाज, संस्कार परम्परा आदि के अनेकानेक आवरणों को भेद कर उसे पहचान नहीं पाए थे। इसलिए वह व्यक्ति जो अनुभूति प्राप्त करता है, उन आवरणों के घटाटोप में कहीं खो गया था और आज भी खोया हुआ है। वीरगाथा काल से प्रगतिवाद-युग तक की कविता मे व्यक्ति के ऊपर तने हुए उन्हीं आवरणों का चित्रण है। वह कविता कवियों की कामना, भावना और विचारणा का परिणाम तो है, किन्तु यथार्थ अनुभूति का परिणाम नहीं। फलतः उन ऊपरी आवरणों में जो कवि को व्यक्ति का बाहर से परिचय देते रहे हैं—हम व्यक्ति के सत्य को झुठलाते आए हैं। वास्तव में जिन आवरणों को हम देखते रहे हैं वे व्यक्ति का यथार्थ रूप न होने के कारण असत्य थे, किन्तु हमारा काव्य उन्हीं को सत्य मानता रहा है। प्रगतिवाद ने प्रगति का नारा लगाया, परन्तु वह भी व्यक्ति के सत्य तक न पहुँच सका। उसने भी व्यक्ति को मार्क्सवाद के खोल में छिपाकर झुठलाना चाहा। प्रयोग शील कवि ने घोषणा कि की मैं उसी खोए हुए—झुठलाए गए-सत्य

व्यक्ति का विभिन्न राहों से अन्वेषण करने के लिए नए-नए प्रयोग करूँगा। इस घोषणा का रहस्य ही "तार-सप्तक" के सम्बन्ध में कहे गए अज्ञेय के इस कथन में मिलता है:—

"निःसन्देह तारसप्तक में भी यह स्पष्ट कर दिया गया था कि संगृहीत कवि सब अपनी अपनी अलग राह का अन्वेषण कर रहे हैं।"[1] यह सत्य व्यक्ति जिसे खोजने के लिए नयी कविता का प्रारम्भिक पक्ष प्रयोगशील रहा, इस रेखा-चित्र से समझा जा सकता है। इस में केन्द्र का बिन्दु 'व्यक्ति' है। उसके चारों ओर वृत्ताकार घूमती रेखाएँ उस व्यक्ति पर छाए हुए वे विभिन्न आवरण हैं, जिनकी वर्जनाओं में यह मौन रहता है और वे आवरण ही व्यक्ति मान लिए जाते हैं।

सन् ४३ से पूर्व का कवि इन रेखाओं को भेदकर व्यक्ति के सत्य तक नहीं पहुँच सका था। वह यह मानता आ रहा था कि व्यक्ति वही है, जो उसकी परम्पराएँ हैं, उसका धर्म है, चिन्तन के घेरे हैं, जो उसका इतिहास है। अब प्रगतिवादियों ने भी उसे उतना ही पहचाना जितना कार्ल मार्क्स ने कहा था, अधिक नहीं। प्रयोगशील कवियों ने कहा कि नहीं, व्यक्ति को पहचानने के लिए हमें उसके आवरणों को हटाना होगा, उन्हें अस्तित्वहीन मानना होगा। आवरणों के घेरों का समूह विराट् है, इस विराट को महाशून्य—एक बहुत बड़ी रिक्तता—मानना होगा, तब हम प्रयोग करते हुए उस सत्य व्यक्ति का अन्वेषण कर सकेंगे। अज्ञेय के काव्य में जहाँ महाशून्य शब्द आया है इसी अर्थ में आया है, किन्तु दर्शन के आग्रह से काव्य को देखने वालों ने उसका सम्बन्ध बौद्ध शून्यवाद से जोड़ दिया है, जो भ्रमात्मक है। अज्ञेय जो किसी परम्परा और पुरातन को अपने प्रयोगों की राह में मानने को तैयार नहीं, बौद्ध दर्शन को काव्यबद्ध करो, यह बात समझ में नहीं आती। अन्य प्रयोगशील कवियों ने भी 'प्रयोग' को भले ही रूप और शिल्प तक सीमित बताया हो, वस्तुतः वे सभी परम्परा आदि के आवरण भेदकर उस सत्य व्यक्ति को खोजने के लिए ही प्रयोग कर रहे थे। चूँकि प्रयोगकाल में उन्हें वह व्यक्ति-सत्य मिला नहीं था, इसलिए अधिकांश प्रयोगशील कविता दुरुह हो गई है और उसका शिल्प अटपटा लगता है।

सन् '५१ के पश्चात् '५६ तक की आज की कविता दूसरे सोपान पर पहुँची। प्रयोग करके उसने जिस व्यक्ति को उसके केन्द्र पर पहचाना, वह उसे बहुत नाटा, बौना, कुंठा-ग्रस्त, अनास्थावान् और अस्तित्व के प्रति भयभीत दिखाई दिया : यह उस व्यक्ति का वह सत्य स्वरूप था, जो ऊपरी आवरणों में छिपा हुआ था, ऊपरी लबादों ने ही वास्तव में उस व्यक्ति को ऐसा बना दिया था। निश्चय ही प्रयोगशील नयी कविता सन् ५१ से ५६ तक अपने विकास के दूसरे सोपान पर रही।

यहाँ तक आकर कवि व्यक्ति के जिस सत्य से परिचित हुआ वह अब अन्वेषण

---

१ तीसरा सप्तक, भूमिका, पृष्ठ १०

की वस्तु न रह कर वर्णन की वस्तु बन गया था। यही कारण है कि ५१ से ५६ तक की नयी कविता में व्यक्ति की उस क्षुद्रता का अधिक वर्णन है, जो क्षुद्रता उसको उसकी परम्परा आदि आवरणों की देन है। ये आवरण कितने ही गौरवशाली हों, व्यक्ति की हीनता के प्रकट हो जाने के कारण अपना समस्त महत्व खोकर झूठे सिद्ध हो रहे थे।

प्रयोगशील नए कवि में और पुराने कवि में यही महत्त्वपूर्ण अन्तर है कि जहाँ एक ओर पुराना कवि व्यक्ति को न देखकर उसके आवरणों को ही व्यक्ति मानता है, वहाँ नया कवि विज्ञान को साक्षी बनाकर आवरणों को असत्य, मिथ्या महाशून्य मानता है और व्यक्ति को ही चरम सत्य मानता है। यही नए और पुराने की विभाजक रेखा हैं। नये का सूत्रपात उसी क्षण से हो जाता है, जिस क्षण व्यक्ति के अनुभूत सत्य के अन्वेषण के लिए नए नए प्रयोग प्रारम्भ हो जाते हैं। किन्तु अपने प्रथम विकास चरण में नयी कविता प्रयोगों के कारण अपने आन्तरिक वस्तुगत अर्थ को बोध नहीं करा सकी थी, अतः ठीक पहचानी भी नही जा सकी थी। जब वह पहचानी गई, तब वह उस व्यक्ति का चित्रण कर रही थी, जो कुंठित था। यही कारण है कि दूसरे चरण की नयी कविता पर सरलता से यह आरोप लगाया जा सकता है कि वह अनास्था और कुण्ठा का साहित्य है। किन्तु समस्त नयी कविता को अनास्था और कुण्ठा का साहित्य नही कहा जा सकता। व्यक्ति सत्य के प्रति कवि की ईमानदारी ने दूसरे सोपान पर उससे कुण्ठा का चित्रण कराया है। उस सोपान पर खड़े नए कवि का यही दायित्व था।

क्या कवि व्यक्ति सत्य के केन्द्र तक पहुँच कर उसे क्षुद्र पाकर कुंठित देखकर फिर झुठलाता और उन्ही घेरों का वर्णन फिर करने लगता, जिन्हें वह देखकर महाशून्य मानकर व्यक्ति तक आया था? निश्चय ही वह ऐसा नहीं कर सकता था। इसीलिए उसने पूरी ईमानदारी से व्यक्ति को उसी के केन्द्र पर, वह जैसा भी था उसी रूप मे पहचाना। यों अन्वेषण हुआ प्रथम सोपान और व्यक्ति सत्य की प्राप्ति हुआ दूसरा सोपान। व्यक्ति के लिए उसके आवरण ही उसका 'अहं' थे। कवि के लिए वे आवरण मिथ्या हुए और उस व्यक्ति को वस्तु-स्थिति, जिसमें वह केन्द्रित था, उसका 'अहं' बनी। पहला 'अहं' बाहरी था। झूठा था, दूसरा 'अहं' भीतरी था, सत्य था। पहला "अहं" विराट् घेरों के रूप में था, कवि के लिए न होने के बराबर शून्य था, दूसरा 'अहं' व्यक्ति का भोगा हुआ यथार्थ अनुभूत जीवन था—सत्य था। पहला 'अहं' जहाँ प्रयोगशील कवियों के लिए तिरस्कार्य बना, वहाँ दूसरा 'अहं' उनके लिए विस्तार्य बना। अतः प्रयोगशील नयी कविता का तीसरा चरण सन् ५६ के बाद प्रारम्भ हुआ, जिसमें व्यक्ति को भीतर से बाहर की ओर विस्तार देकर उसकी बड़ी इकाई में पहचाना जाने लगा। यों गत ७-८ वर्षों में जो प्रयोगशील नयी कविता

लिखी गई है, उसमें व्यक्ति क्षुद्र और कुंठित नहीं रह गया, अपनी समस्त क्षुद्रता के बोध के पश्चात् अपनी सत्ता के विस्तार में लग गया है। वह भीतर से बाहर की उभर कर उन सब रेखाओं पर फैलता जा रहा है, जो पीढ़ि के चित्र में उसे घेरती हुई दिखाई गई हैं। अब वह सभी आवरणों पर अपने 'अहं' के नए संस्कार डालता हुआ बौने से विराट् होने जा रहा है। कवि का ऐसा सत्यांकित व्यक्ति-चित्रण भी अब आलोचकों के समझ में नहीं आने के कारण इस आरोप का विषय बन गया है कि आज का कवि "अहं" वादी और घोर व्यक्तिवादी हो गया है। परन्तु वास्तविकता यह है कि व्यक्ति सत्य का विस्तार 'अहं' का वह गर्हित रूप नहीं है—जो व्यक्ति की देन न होकर परम्परा आदि की बाहरी देन होता है। वस्तुतः व्यक्ति के अहं का विस्तार प्रयोगशील नयी कविता की तीसरे सोपान की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। उसने यह सिद्ध कर दिया है कि यदि परम्परा आदि के सभी खोल उतार कर व्यक्ति को स्वतन्त्र कर दिया जाय तो वह कुंठित, क्षुद्र और बौना नहीं रहेगा, वह अपने समस्त उस विराट और महान् को सार्थक कर सकता है, जो ऊपरी आवरणों के कारण उसके भीतर ही दबा पड़ा है। और जिसके कारण वह समाज से कट गया है, समाज होकर भी समाज नहीं रह गया। निश्चय ही प्रयोगशील नयी कविता आरम्भ से अब तक अन्वेषण प्राप्ति और विस्तार के तीन चरणों से 'प्रयोग', 'नया' और 'आधुनिकता' के जिन सोपानों पर अग्रसर हुई है, वे उसकी व्यक्ति-मुक्ति की महान् यात्रा के प्रतीक तो हैं ही, साथ ही उसकी नयी समाज रचना के भी नए तोरण हैं।

अब तक के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रयोगशील नयी कविता आयु, काल आदि के संदर्भों में नयी नहीं है, अपितु वह अपने उस कथ्य की दृष्टि से भी नयी है, जो कथ्य व्यक्ति की वास्तविक सत्ता से जुड़ा हुआ है। पुरानी कविता उससे इसी अर्थ में भिन्न है कि उसने व्यक्ति की सत्ता को परम्परा आदि से मुक्त नहीं होने दिया था। आज भी जो कवि उस सत्य व्यक्ति का अन्वेषण करता है, उसको पहचान लेता है, पहचान का वर्णन करता है तथा उस पहचाने हुए व्यक्ति के आन्तरिक विराट् को विस्तार देता है, वही नया कवि है, वही पुराने से भिन्न है। निश्चय ही व्यक्ति अन्वेषण के प्रयोग, प्राप्ति और उसके अहं-विस्तार को आज के पूर्व भी जिन कवियों ने अपनी कविता में स्थान दिया है, वे नए कवि हैं। वे ही आधुनिक भी हैं, क्योंकि वे व्यक्ति को वह जिस स्थिति में जैसा है और जितना हो रहा है, आगे हो सकता है, उतना समझ रहे हैं, रूप दे रहे हैं, उसे अपने से पूर्व के किसी अतीत से घेर कर किसी आवरण में ढके नहीं रखना चाहते। नयी कविता से आधुनिकता इसी अर्थ में तीसरे चरण के रूप में जुड़ी हुई है। व्यक्ति के यथार्थ 'अहं'-विस्तार का तीसरा चरण जिन नए संस्कारों को गढ़ रहा है, उन्हीं से आधुनिकता का विकास हो

रहा है। आधुनिकता अन्य संदर्भों में जिस प्रकार स्वतन्त्रता, अन्तर्राष्ट्रीयता, वैज्ञानिक जीवन-दृष्टि और व्यक्ति के यथार्थ सत्य के साथ सम्बद्ध हैं, उसी प्रकार नयी कविता में भी वह ऐसी जीवन-दृष्टि का पोषण करती है, जिसमें व्यक्ति का सामाजिक चरम स्वातन्त्र्य और प्रगति का अनन्त मार्ग सुरक्षित है। इसीलिए सच्ची प्रयोगशील नयी कविता आधुनिक जीवन की सच्ची कविता है। वह प्रयोग, प्राप्ति और विस्तार के किसी भी चरण पर पुरानी नहीं है। जहाँ तक रूप और शिल्प का प्रश्न है, वह तो कथ्य की नवीनता के साथ नया होना ही चाहिए, बिना उसके कथ्य की नवीनता सुरक्षित भी कैसे रह सकती है? किन्तु, रूप और शिल्प की जहाँ नवीनता और प्रयोगशीलता हो, वहाँ कथ्य भी नवीन और आधुनिक हो, यह अनिवार्य नहीं है। अतः प्रयोगशील नयी कविता के विकास के पूर्वोक्त तीनों चरण मुख्यतः उसके कथ्य पर ही निर्भर हैं। रूप और शिल्प मात्र पर नहीं। और वह कथ्य व्यक्ति को प्रामाणिक बना कर हमारे सामने जिस सीमा तक रख सकता है, उसी सीमा तक वह प्रयोगशील नयी कविता का साक्षी बन सकता है और उसी सीमा तक वह समाज की सही स्थितियों को प्रस्तुत करने की सामर्थ्य पा सकता है।

: १८ :

अशोक वन की विचार-भूमि

'अशोक वन' एकांकी के लेखक लक्ष्मीनारायण मिश्र एक बुद्धिवादी कलाकार हैं। वे सामान्य बातों में भी कला का समावेश कर बुद्धि के लिए विचार-सामग्री उपस्थित कर देने में पूर्ण दक्ष हैं। भारतीय आदर्श में आस्था रखते हुए उन्होंने बुद्धिवादी दृष्टि से सीता-हरण के प्रसंग को देखा है। सीता रावण के यहाँ रहीं और राम ने उनके सतीत्व पर सन्देह किया, जिसके लिये उन्हें अग्नि-परीक्षा देनी पड़ी। वस्तुतः मिश्रजी की तार्किक बुद्धिवादी प्रतिभा यदि वाल्मीकि या तुलसी को मिली होती तो सीता को अग्नि-परीक्षा न देनी पड़ती। मिश्र जी ने इस प्रसंग को इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि राम को तो क्या, पाठक को भी सन्देह के लिये स्थान नहीं मिलता।

रावण ने अशोक–वन में सीता को इसलिये रखा है ताकि सीता वहाँ के वासनात्मक वातावरण से प्रभावित होकर पुरुष के संसर्ग की कामना करें। रावण तब तक सीता को नहीं अपना सकता जब तक वे स्वयं ही उसको पाने के लिये लालायित न हो उठें। किन्तु इस कार्य में वह सफल नहीं होता। सीता पर अशोक–वन के वासनोद्दीपक वातावरण का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। तब रावण उनका शृंगार कराने अपनी रानियों को भेजता है, किन्तु उससे भी सीता के मन में कोई विकार नहीं आता, अन्त में वह स्वयं आकर प्रणय–निवेदन करता है और सीता के इन वाक्यों से परास्त होता है—

तो इसका अर्थ यह है कि राक्षसराज मुझसे अपना प्रणय निवेदन करते हैं। आत्मसमर्पण नारी करती है। राक्षसराज ? पुरुष नहीं। और पुरुष जब यह करता है, फिर पुरुष नहीं रह जाता। देवजयी रावण किसी नारी से प्रणय का प्रस्ताव करे तब पौरुष धूल में लोटेगा और वीरता विडम्बना होगी।

इस नाटक के सभी पात्रों की अपनी मौलिक विशेषताएँ है। रावण वीर, प्रतापी, संयमी, मर्यादा का पालन करने वाला तथा विद्वान् है। वह सीता को चुराकर अवश्य लाया है, किन्तु शत्रु की नारी को चुराकर लाना नीति-संगत है, इसलिये लाया है। वह स्वयं इस बात को दुहराता है कि "शत्रु की रमणी का अपहरण नीति है और अब जब उसे यहाँ ले आया है, तो उसके प्रति कोई धर्म है या नहीं। प्रतिहिंसा

में उसके नाक-कान काट लेना ही साधारण पुरुष का काम होता, तुम जानती हो रावण असाधारण है।"

वह यहाँ तक नीति का पालन करता है कि सीता के पास रथ में बैठकर नहीं जाता। कहता है—

"इन्द्र और देवरथियों के सामने इस रथ का प्रताप है। देवी विदेहनंदिनी जानकी के पास इस रथ पर जाना उसे भय देना होगा। लोक-विजयी मैं इसलिये नहीं हुआ कि एक अबला को भय दूँ।"

सीता के आचरण में भी मानवीय व्यवहार-कुशलता तथा समयानुकूल बौद्धिकता का समावेश किया गया है। वे रावण से निर्भय होकर तर्क करती है किन्तु उसके मुख को नहीं देखती—यों भारतीय नारी की परम्परा का भी निर्वाह करती हैं। उनके स्वभाव में जो दृढ़ता एवं समयानूकूल साहस है, वह प्रशंसनीय है। सीता के चरित्र की दृढ़ता को सोने-सा चमकाने के लिए लेखक ने रावण को प्रतापी तथा रूपवान अंकित किया है। उसके शील की भी सराहना की है, जिससे सीता में उसके प्रति स्वाभाविक आकर्षण जगाया जा सके। जब सीता उसके इन सब गुणों से भी प्रभावित नहीं होतीं, तब उनके चरित्र की दृढ़ता प्रभावित हो जाती है। उधर रावण को भी अपने सिद्धान्तों पर दृढ दिखलाकर सीता के शील की रक्षा की गई है। वह सीता को चुरा अवश्य लाया है, किन्तु उनके शील का अपहरण उनकी इच्छा के बिना नहीं कर सकता, वह किसी भी ऐसी स्त्री को ग्रहण नहीं कर सकता, जिस पर उसके अनुराग की लालिमा न चढ़ जाये। अन्य पात्रों में चित्रांगदा को नारी-सुलभ कोमलता से युक्त दिखाया है तथा मन्दोदरी में परिवार की रक्षा के लिये आवश्यक सूझ-बूझ दिखलाई गई है। उसमें रावण को मन्त्रणा देने की क्षमता तथा साहस दोनों हैं।

पौराणिक विचार परम्परा की पूर्ण रक्षा करते हुए लेखक ने रावण के स्वभाव में घोर भौतिकता का समावेश दिखाया है। वह बाह्य जगत् का जीव है। उसको संदर्भ में रखकर लेखक ने नारी-जागरण सम्बन्धी अपने विचार दिये हैं। नारी को समाज में उसका खोया हुआ स्थान प्रदान करने की तीव्र आकांक्षा इस एकांकी में ध्वनित हो रही है साथ ही लेखक अपने इस दृष्टिकोण को चित्रित करने में भी सफल हुआ है कि भारतीय संस्कृति-परम्परा के अनुकूल नारी का पतिव्रत-धर्म-पालन समाज की स्वस्थ-रचना के लिये नितान्त आवश्यक है।

विभिन्न पात्रो के माध्यम से अपने क्रान्तिकारी विचार व्यक्त करने के लिये लेखक ने अन्य अनेक प्रसंग भी सहज में निकाल लिए हैं। यथा एक स्थान पर प्रेम के सम्बन्ध में वह अपनी धारणा इस प्रकार व्यक्त करता है—

"पंछी भी प्रेम करते हैं। मनुष्य ने कभी प्रेम का पहला पाठ इन्हीं से पढ़ा होगा।"

उनका मत है कि आदमी बाहरी शत्रु पर सरलता से विजय पा सकता है, किन्तु अपने भीतरी शत्रु पर विजय पाना उसके वश की बात नहीं। जानकी से उसने कहलाया है—

"रावण का प्रताप किसी को सुनने और सोचने न देगा। इन्द्र को जीत लेना मेघनाद के लिये सरल था, पर इन अनीतियों की ओर उंगली उठाना उसके लिये भी सरल नहीं है।"

लेखक का विश्वास है कि शक्ति विचार की उपेक्षा करती है और उसी का परिणाम होता है मनुष्य का विनाश। जानकी कहती हैं—

"सुना है, विभीषण अकेला ही इस लंकापुरी में विचारवान है, पर शक्ति विचार की बात सुनती कब है ?"

पूंजीवाद के विरुद्ध भी लेखक ने अपने विचार व्यक्त किए हैं। उसकी मान्यता है कि—

"सोने का रनिवास वहीं होता है, जहां दूसरों को लूट कर, दूसरों को बिगाड़ कर धन कमाया जाता है। जहां एक मनुष्य या एक परिवार अनेक मनुष्यों का रक्त चूसता है।"

आदमी को अपनी मर्यादा तथा शील की निरन्तर रक्षा करनी चाहिए। कहा है—'अपनी मर्यादा अपना शील मुझे न छोड़ना चाहिए। क्रोध अन्धा बना देता है, विचार उड़ जाता है।"

आंखों का प्रभाव और शक्ति के सम्बन्ध में लेखक ने विचार व्यक्त किया है कि—

"आंखों में समुद्र होता है, आकाश होता है, आग होती है। आंखों में अमृत और विष भी होते हैं। आंखों में, जो कुछ भी इस धरती पर है, सब कुछ रहता है।"

स्त्री के विषय में युग की जो धारणा रही है, उसे लेखक ने इन पंक्तियों में व्यवत किया है—

"स्त्री भी भू-खण्ड है, धन की पिटारी या मणिमाला है, जो जीतेगा उसे उठा लेगा। उसकी न कोई रुचि है न कामना। वह चेतन भी नहीं है"

परन्तु शीघ्र ही जानकी का आक्रोश यह निर्णय देता है कि—

"शस्त्र से नारी का हृदय नहीं जीता जाता देवी।"

भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत नारी-पुरुष के सम्बन्ध पर भी प्रकाश डालती हुई जानकी कहती हैं—

"जो मेरे प्रेम के मोह में डूब रहा है, उसकी ओर देखना नारी की मर्यादा के विरुद्ध होगा। पर-पुरुष की ओर देखती भी नहीं देवी।"

युद्ध की सभ्यता पर लेखक की दृष्टि गई है। जानकी कहती है—

"पुरुष अधिकार और अहंकार में युद्ध करते हैं। नारी चुपचाप यह संहार देखती है।"

जानकी के शब्दों में लेखक ने यह विचार भी व्यक्त किया है कि नारी चाहे तो पुरुष को युद्ध से रोक सकती है। यथा—

"हम दोनों में किसी को विधवा तो होना ही है। इस युद्ध का यही परिणाम् होगा। क्या हम यह देखती रहेंगी ? तुम चाहो तो यह रोक सकती हो माँ।"

पतिव्रत के विषय में कहा है—

"पति को वासना से रोकना भी तो पतिव्रत है।"

नारी ही नारी की पराजय का कारण बनती है, इस सम्बन्ध में भी पर्याप्त विचार व्यक्त किये गए हैं। लेखक ने चित्रांगदा से कहलाया है—

"यदि नारी की सहायता न हो तो पुरुष नारी को छल नहीं सकता। जहाँ कहीं भी नारी छली गई, किसी न किसी नारी के कारण। पुरुष संसार जीत सकता है, सिंह और मतवाले हाथी को वश मे कर सकता है, किन्तु नारी उसके लिये सदैव अजेय है।"

कला के विषय में कहा है कि "कला की गति समय और सीमा को पार कर जाती है।"

सारांश यह है कि अशोक-वन एकांकी विचारों की दृष्टि से नये युग की चेतना का प्रसारक है। उसमें जीवन के विभिन्न पक्षों पर अत्यन्त सुलझे हुये ढंग से प्रकाश डाला गया है। पुरानी कथा और चरित्रों को नए युग-बोध से सम्पन्न करने वाला यह एकांकी मिश्रजी की एकांकी कला की सफलता का परिचायक है।

: १६ :

जगदगुरु : विचार और जीवन-दृष्टि

विचार :—लक्ष्मीनारायण मिश्र 'जगद्गुरु' नाटक में प्राचीन भारतीय विचारधारा का पोषण करते हुए दिखाई देते हैं। भारतीय संस्कृति में दान, दया, तप और आस्तिकता का बहुत महत्त्व है। लेखक ने विभिन्न पात्रों के माध्यम से भारतीय संस्कृति की इन विशेषताओं के समर्थन में विस्तार से अपने विचार व्यक्त किये हैं।

नाटक का प्रारम्भ मण्डन मिश्र के दान के प्रसंग से होता है और इस सम्बन्ध में सबसे पहले लेखक ने दान-दाता की भावना पर प्रकाश डाला है। उन्होंने बतलाया है कि दान-दाता को न तो अभिमानी होना चाहिये और न पक्षपाती। यथा, एक नागरिक कहता है—

"पण्डित याचक के मुख की ओर कभी नहीं देखते। उनकी आँखें याचक के पैरों की ओर ही रहती हैं।" (पृष्ठ १२)

दान का पात्र ब्राह्मण को बतलाते हुए कहा गया है कि "दान लेने का कर्म भी ब्राह्मण का है।"

लेखक ने पुनर्जन्म और प्रारब्ध भोग में विश्वास किया है और दान सामग्री में विद्या को श्रेष्ठ स्थान दिया है, जो बिना पूर्व जन्म के संस्कारों के प्राप्त नहीं होती। यथा एक नागरिक कहता है—

"उनसे विद्या-दान लेना जब मेरे भाग्य में नहीं था, जिसका क्षय कभी नहीं होता, दूसरा दान क्या लूंगा, जो सवेरे लिया और संध्या को समाप्त।" (पृष्ठ १६)

भारती के निम्नांकित शब्दों से भी लेखक के पुनर्जन्म सम्बन्धी विचारों का समर्थन होता है—

"प्रिय दर्शन के पुनर्जन्म के संस्कार में अलौकिक विद्या नहीं थी.......... अलौकिक पत्नी थी.....पुत्र था। पुरुष यश पुत्र से मिलता है × × × श्रुति वाली प्रमाण है, हे अग्नि ! हम अपनी प्रजा के द्वारा अमरता प्राप्त करें। विद्या के द्वारा अमरता की कामना श्रुति में कहीं नहीं है। विद्या से अमरता मिलने की बात है, पर उसके द्वारा अमरता की कामना........इस दृष्टि में प्राणी की जो कामना होती आई है, वही श्रुति में भी है।" (पृष्ठ १८)

पुत्र के सम्बन्ध में लेखक ने फिर लिखा है—"पत्नी और पुत्र से पुरुष पूर्ण होता है।" विश्व रूप अपनी पत्नी भारती से कहता है कि "विना तुम्हारे मेरी वाणी शब्द-हीन है और हृदय भाव-हीन।" लेखक ने आगे यह भी कहा है कि "पत्नी पति की भाग्य रेखा होती है और ऐसी पत्नी जिसकी विद्या देश भर में छा गई है।"

(पृष्ठ सं० २१)

वालक के विषय में लेखक ने लिखा है—

"तीन वर्ष तक वालक में देव भाव कहा गया है। माता-पिता भी उन चरणों को अपने ललाट से लगाकर तृप्ति लेते हैं।" (पृष्ठ २१)

पशु के विषय में लेखक ने लिखा है—

"पशु का स्वाभाविक ज्ञान मनुष्य से अधिक होता है·········आँधी आने को होती है, तो वन्य जीव भाग कर रक्षा-भूमि में पहुँच जाते हैं। ओले गिरने को होते हैं, उन्हें उसका वोध वहुत पहले हो जाता है और वे उन-उन स्थानों में जा पहुँचते हैं जहाँ उनकी रक्षा हो जाती है·········वाणी और विद्या के अधिकारी मनुष्य को तब तक पता नहीं चलता, जब तक आँधी सिर पर नहीं आ जाती या ओले सिर पर गिरने नहीं लगते। बुद्धि वढ़ती गई, निसर्ग-बोध मिटता गया। प्रकृति जी रही है······ उसके अन्य सभी प्राणी जी रहे हैं, पर क्या मनुष्य भी जी रहा है ?" (पृष्ठ २८)

हृदय के भावों पर भी लेखक ने जोर दिया है। श्रद्धा के विषय में उसने लिखा है—

"शब्द ब्रह्म है·········अक्षर ब्रह्म है······उसी शब्द और अक्षर से लोक छल भी करता है। शब्द ब्रह्म तब है, जब उसके प्रयोग में श्रद्धा का भाव रहे। बिना श्रद्धा के शब्द ब्रह्म राक्षस बन जाता है।" (पृष्ठ ३०)

लेखक को ईश्वर में पूर्ण विश्वास है। वह कहता है—"भगवान् किसको भोजन नहीं देता। चींटी कहाँ खेती करती है ? कागा कहाँ वनिज करता है ? जिलाने वाला न चाहे तो अपने से कौन जी लेगा ?" (पृष्ठ ३१)

धार्मिक सम्प्रदायों के बारे में लेखक के विचार हैं··· "देश भर में धर्म के जो अनेक सम्प्रदाय चल पड़े हैं·········जिनमें कुछ सात्विक और कुछ घोर असात्विक हैं, परस्पर के संघर्ष और द्वन्द्व से लोक का संहार करते आये हैं।" (पृष्ठ ६३)

वे एक अन्य स्थान पर कहते हैं—

"प्रतापी सूर्य को जिस प्रकार अस्वीकार करना असंभव है, उसी प्रकार वेद, पुराण, महाभारत, ब्रह्म सूत्र के रूप में इस देश की विद्या के आदि सूर्य आदि स्त्रोत का अस्वीकार करना भी असंभव है। विना उस सूर्य से पोषण लिये इस देश की विद्या की काया सूखती-सूखती समाप्त हो जायगी और विना उस स्त्रोत के रस के वह रस-हीन हो जायगी। काव्य और कला सभी मिट जायंगी।" (पृष्ठ ८७)

काल में विराम करते हुए लेखक ने लिखा है—

“काल की दुर्निवार गति में किसी का वश नहीं है। बाद में [illegible] (बचपन का) प्रतिद्वन्द्वी नहीं सुना गया था। [illegible] अनुकूल है। बुद्धि के प्रतिकूल जब काल हो जाता है, तो दूसरों की बात क्या?” (पृष्ठ ९०)

तप और योग का महत्त्व बताते हुए मिश्रजी शंकर के शब्दों में कहते हैं—

“तप से, योग से, धीर बना जाता है। प्रकृति का मरम तो यही है कि जब जो परिस्थिति देखी हो चाहे सुख की या दुख की उसके अनुकूल भाव का स्वाद उसे मिले। रुदन और हास्य भाव के व्यापार-मात्र हैं।” (पृष्ठ ११३)

जीवों की समता का प्रतिपादन करते हुए आचार्य शंकर के शब्दों में वे कहते है—

“जो जीव हमारे भीतर है, वही उनके भीतर भी है······भेद तो केवल नाम-रूप का है। परम तत्त्व एक है, जो सृष्टि के नाना रूपों में प्रकाशित हो रहा है। सभी कर्म, सभी अनुभव, सभी स्वाद उस एक के हैं।” (पृष्ठ ११५)

अपराध आदि वृत्तियों के विषय में भी लेखक ने विचार व्यक्त किये हैं। यथा—

“हम सभी आकाश के पक्षी है। नीड़ का मोह जगत् का प्रपंच है नीड़ का मोह मिटे, फिर आप देखें जगत् का प्रपच मिट जाता है कि नहीं। जो आप हैं वही मैं हूँ। भेद की बुद्धि जहाँ नही है, वहाँ अपराध की कल्पना भी नही है।”
(पृष्ठ ११६)

वैराग्य की भावना के विषय में भी लेखक ने मनोवैज्ञानिक सत्य पर आधारित विचार व्यक्त किये हैं। यथा—

“चौदह और सोलह के बीच में जितने होते हैं, सभी बिना पंख के आकाश में उड़ने लगते हैं। जगत् का असयत् आकर्षण वैराग्य का रंग ले लेता हैं। कितने विवाहित है इनमे ?” (पृष्ठ ११९)

संन्यास के आगे कर्म को प्रधानता देते हुए उन्होने लिखा है—

“श्रुति सिद्ध बन जाने पर जो श्रुति तुम्हें संन्यास की ओर ले जाय तब निर्भय होकर चल पड़ो। कर्म से हीन बन जाना सन्यास नहीं है। कर्म के समुद्र का पार कर जाना संन्यास है। श्रुति में यज्ञ का साक्षात्कार होता है, बिना यज्ञ किये भी उसके साक्षात्कार से वह फल मिल जाता है। तीन पुरुषार्थ के सारे भोग श्रुति में सिद्ध हैं। श्रुति-सिद्ध करो फिर तुम्हारे लिये ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ के नियम की आयु को आवश्यकता न रहेगी।” (पृष्ठ १२०)

आगे इस सम्बन्ध में वे कहते—

“इन किशोरों के गृह-त्याग से लोक का दुःख बढ़ेगा। एक कुल में एक समय

एक ही संन्यासी रहे, लोक का स्वस्थ रूप यही होगा। कुल के हर परिवार में जो एक संन्यासी हो जाय, तो वह लोक रोगी कहा जायगा और जो सभी वयस्क संन्यासी बन जायं, तो वह लोक मर जायेगा। गौतम से बहुत पहले श्रुति ने मृत्यु को स्वीकार नहीं किया था, पर गौतम उससे अपरिचित रहने के कारण मृत्यु से डर कर ज्ञान की ओर भागे। पुत्र और पुत्री को परिव्रज्या देकर उन्होने अपने परिवार का ही नहीं अपने लोक का वध किया था। वह कार्य मुझे नहीं करना है। योगियों के चक्रवर्ती गौतम की ओर मेरी श्रद्धा है, पर उनकी विधि में विडम्बना मानता हूँ। भारत भूमि उसका फल भोग चुकी, अब आगे न भोगे, हमें तत्पर होकर देखना यह है।" (पृष्ठ सं० १२१)

इस प्रकार लेखक ने इस नाटक में जीवन के विभिन्न क्षेत्रों को लिया है और अपने सुलझे हुए विचार व्यक्त किये हैं। समग्र रूप में 'जगत गुरु' की विचारधारा भारतीय संस्कृति की पोषक एवं भारतीय जीवन का उत्थान करने वाली है।

जीवन-दृष्टि:—'जगद गुरु' नाटक में भाग्यवादी भावनाओं का विस्तार से चित्रण हुआ है। नाटक के कथाशिल्प के मूल में भाग्यवाद निहित है, पात्रों का चरित्र भी भाग्यवाद के आधार पर चित्रित हुआ है तथा विषय की अभिव्यक्ति भाग्य की भाव-भूमि पर की गई है। लेखक पुनर्जन्म, प्रारब्ध-भोग, काल-गति ईश्वर प्रेरणा आदि में पूर्णतः विश्वास करता है। उसके भाग्यवादी विचार शंकर-युग की एक विशेष सम्पति है। उनके माध्यम से तत्कालीन जन-जीवन की स्थिति को सरलता-पूर्वक समझा जा सकता है।

मिश्र जी प्रारम्भ से ही नाटक की कथा वस्तु का संघटन भाग्यवादी शिल्प विधान के आधार पर करते हैं। शांप, स्वप्न आदि का आयोजन इस तथ्य का प्रमाण है। दैवज्ञ की भविष्यवाणी शंकर के भाग्य का उनके जीवन की समस्त भवितव्यता का—निर्णय कर देती है। आगे की घटनाएँ उसी क्रम से घूमती हैं। दैवज्ञ की भविष्य-वाणी में विश्वास कर शंकर संन्यासी बन जाते हैं। वे अल्प काल में सर्वज्ञ बन कर बड़े बड़े पण्डितों को पराजित करते हैं। परन्तु वे भी भाग्य में विश्वास करके ही आगे बढ़ते हैं। भारती, मण्डन, श्रुति केतु आदि भी स्वप्नों के माध्यम से अपनी भाग्य भावना प्रकट करते हैं। समस्त कथा प्रसंग मनुष्य के पुरुषार्थ का निषेध कर भाग्यवाद का समर्थन करते दिखाई देते हैं।

अब कुछ उदाहरण लीजिए—

नाटक के प्रारम्भ में हीं दौपारिक कहता है—

"आप लोग नित्य की भाँति व्यवस्थित रूप में एक एक के क्रम से उनके सम्मुख आकर आपने भाग्य के अनुरूप दान लेकर मंगल शब्दों के उच्चारण के साथ

अपने घर लौटेंगे।" (पृष्ठ १२) एक नागरिक कहता है—"ज्ञान भी भाग्य के अनुसार मिलता है।" (पृष्ठ १२)

भारती पूर्व जन्म में विश्वास करती हुई कहती है—

"प्रिय दर्शन के पूर्व जन्म के संस्कार में अलौकिक विद्या नहीं थी···अलौकिक पत्नी थी·····पुत्र था।" (पृष्ठ १७)

रेवती के ये शब्द जन्म कुण्डली में विश्वास प्रकट करते हैं—

"नगर घूमने·····इस नई हथिनी पर·····गए होते तुम्हारी कुण्डली का राजयोग पूरा हो जाता।" (पृष्ठ ३१)

वह आगे अपने भाग्य विश्वास को व्यक्त करती हुई कहती है—

"भगवान किसको भोजन नहीं देता ? चींटी कहाँ खेती करती है ? कागा कहाँ बनिज करता है ? जिलाने वाला न चाहे तो अपने से कौन जी लेगा ?" (पृष्ठ ३१)

विश्वरूप जो एक प्रकाण्ड पण्डित हैं, पुण्य फल में विश्वास करते हुए पत्नी भारती को समझाते हैं—

"हमारे पुण्य अभी क्षीण नहीं हैं देवी। उसकी चिन्ता हमें नहीं है।"

ये पंक्तियां भाग्यवादी संतोष और निश्चिन्तता की प्रेरणा देती हैं।

भारती दैव को कभी भूलती नहीं, यथा—"दैव जाने। अग्रज कुशल से तो है ?" (पृष्ठ ३७)

श्रुति केतु द्वारा कहे गये भट्टपाद के ये शब्द भी भाग्य-विश्वास को अभिव्यक्त करते है—

"हाँ तात।" भट्टपाद ने कहा—"शाबर भाष्य पर वार्तिक लिखना मेरे भाग्य में था, पर आपके भाग्य का वार्तिक किसी दूसरे मेधावी के भाग्य में है।" (पृष्ठ ४५)

भारती स्वप्न देखती है और विश्वरूप दैवज्ञ से उसका फल पूछने की बात कहते हैं—

"भारती—× × आर्य पुत्र। रात·····चौथे पहर रात में·····।

विश्वरूप—हाँ·····चौथे पहर रात में····· × ×।

भारती—बड़ा विचित्र स्वप्न देखा·····उसका फल शुभ है या अशुभ······।

विश्वरूप—दैवज्ञ से उसका विचार कराकर शान्ति कर्म करने थे।"

(पृष्ठ ४५)

स्वप्न भवितव्यता की सूचना देने के लिये घटना रूप में आयोजित किये जाते हैं। भाग्यवादी कथा शिल्प की यह प्रमुख विशेषता है। विश्वरूप जब भारती के स्वप्न को समझ लेते हैं, तो वे कहते हैं—

"स्वप्न का अर्थ है कि शंकर से पराजित होकर मुझे संन्यासी बनाना पड़ेगा। संन्यास से गैरिक वस्त्र मेरी देह पर चढ़ेंगे और देवी यह लोक छोड़ देगी। देवी ने स्वप्न नहीं देखा सौम्य। काल का संकेत देखा।" (पृष्ठ ४५)

आगे चल कर ठीक ऐसा ही होता है। शंकर से पराजित होकर मण्डन मिश्र संन्यासी बनते हैं और उधर भारती का स्वर्गवास हो जाता है। यों इस नाटक का कथा शिल्प भाग्यवादी शिल्प विधान का अनुकरण करता है।[1]

भारती का निम्नांकित कथन पुनः मानवीय पौरुष की उपेक्षा कर भाग्यवाद की प्रतिष्ठा में सहायक हुआ है—

"जय पराजय व्यक्ति के हाथ के नहीं, काल भगवान के हाथ के खिलौने हैं। शंकर को भाग्य में पूर्ण विश्वास है। वे भी कहते है"— (पृष्ठ ५०)

"आप लोगों के भाग्य से देवता भी ईर्ष्या करते होंगे।" (पृष्ठ ६१)

भारती तो हर समय भाग्य का सहारा लेती है। वह एक स्थान पर अपने पति को समझाती है—

"दुःख किसी बात का नहीं आर्य पुत्र। काल की दुर्निवार गति में किसी का वश नहीं है।" (पृष्ठ ९०)

इसी प्रकार मण्डन मिश्र कहते हैं—

"आपका यश मेरे भाग्य की आकाश गंगा है, भव सागर से पार लगाने वाले अब आपही मेरे पोत है।" (पृष्ठ ९३)

शंकर के गाँव का एक वृद्ध भी भाग्य विश्वास व्यक्त करता हुआ शंकर के संन्यासी हो जाने को अपना भाग्य फूटना मानता है। वह कहता है—

"हमारा भाग्य जोन फूटता तो हमारे कुल का आठ वर्ष का बालक संन्यासी कैसे बनता ?" (पृष्ट १०६)

शंकर का निम्नांकित शाप भी मानवीय पुरुषार्थ का खण्डन करता है—
"×× (ऊपर हाथ उठाकर) आपको शाप दे रहा हूँ कि आपके कुल में अब सदैव शव-दाह गृह के द्वार पर ही होता रहेगा। जब तक इस नदी में जल रहेगा मेरी बात मिथ्या न होगी।" (पृष्ठ १०८)

राम स्वामी कहते हैं—

---

[1]भाग्यवादी कथा शिल्प को समझने के लिये लेखक कृत "हिन्द काव्य में नियतिवाद" ग्रन्थ पढ़िए।

"मेरे जन्मान्तर के पाप इसके कारण बने । कल संध्या को ही लौटना था । होनी टलने की तो होती नहीं । आज एक पहर रात रहे चन्द्रमणि के साथ चला । चित्त में कोई भय बस गया । मार्ग में इनके कई बार कहा……कल आ गया होता तो तुम्हारे लिये पूर्वजों की विधि न छोड़ देता ।" (पृष्ठ ११२)

चन्द्रमणि कहता है—

भगवान् के हाथ की कठपुतली बनकर हम सब नाच रहे हैं । कर्म के चक्र में संलग्न प्राणी…… घूम रहे हैं……घूम रहे हैं । इस चक्र का अन्त कब होगा ? कौन जाने (पृष्ठ ११८)

निष्कर्ष यह है कि 'जगद गुरु' नाटक में भाग्यवाद की सभी प्रमुख मान्यताओं का फुटकर चित्रण मिलता है । घटना, चरित्र, भाव, विचार एवं उद्देश्य पर भाग्यवाद का पूर्ण प्रभाव है ।

: २० :

सेठ लाभचंद : कथ्य और शिल्प

(१) सेठ लाभचन्द एकांकी में एक सेठ के धनोपार्जन की पद्धति का दिग्दर्शन कराया गया है तथा उसके दुष्कर्मों के लिये उचित दण्ड की योजना भी की गई है। कथानक इस प्रकार है—

सेठ लाभचन्द अपनी बैठक में गाव तकिये के सहारे बैठा था। उसके पास उसका मुनीम व एक नौकर भी था। वह मुनीम से बातें करके उन लोगों का हिसाब जान रहा था, जो सोने-चाँदी के आभूषण रख कर उससे रुपये उधार ले गये थे।

रामसेवक सेठजी का विश्वास-पात्र नौकर था। वह मेहनत करके भी समय पर वेतन नहीं पाता था। वह कई कर्जदारों के यहाँ घूमकर लौटा था तथा अपना वेतन मांग रहा था। चूंकि वह किसी भी कर्जदार से उगाही करके नहीं ला सका था, इस लिये सेठ उसे वेतन नहीं दे रहा था।

इसी समय उसके पास एक पठान आया जो मदरास जा रहा था, उसे ५०) की जरूरत थी। सेठ उसको रुपये नहीं देना चाहता था, क्योंकि उसके पास सेठ को देने के लिये सोने चाँदी के आभूषण नहीं थे। वह बार-बार अपनी ईमानदारी की बात करता था। किन्तु सेठ उसे रुपये देने को तैयार नहीं होता था। मुनीम के विश्वास दिलाने पर एक रुक्का लिखवाकर सेठ ने उसे रुपये देकर विदा किया।

इसी समय कुछ आदमी आए और सात हजार में नागदा की महारानी के आभूषण बताकर गिरवी रखने व सात हजार रुपये दे देने के लिये जल्दी करने लगे। सेठ ने पहले तो मना किया, किन्तु मन से वह उस जेवर को गिरवी रख लेना चाहता था। अतः तीन हजार से सौदा शुरू करके अन्त में सात हजार में ही उसने वे आभूषण रख लिए। वे लोग बहुत जल्दी में थे। रुपये लेकर तुरन्त चले गए। सेठ भी समझता था कि बारह हजार का माल है, जो सात हजार में रख लिया है। उसे यह भी मालूम था कि वह माल चोरी का है, क्योंकि उसने उनसे इस विषय में संकेत भी किया था।

सेठानी ने घर में कुछ ब्राह्मणों से दुर्गा पाठ कराया था, जिसकी दक्षिणा लेने वे ब्राह्मण भी उसी समय वहाँ आए और सेठ ने उन्हें दस दस आने के हिसाब से

दक्षिणा देकर लौटाना चाहा। वे ब्राह्मण नाराज होकर बिना दक्षिणा लिए ही वहां से चले गए।

महादीन नाम का एक ब्राह्मण पण्डित भी उसी समय अपनी पत्नी के इलाज के लिए ५०) मांगने आया। वह कुछ समय पहले ५००) के कड़े केवल ३००) में रख गया था। सेठ उसका माल ब्याज दर ब्याज लगाकर हजम कर लेना चाहता था। अतः उसने महादीन को बार-बार प्रार्थना करने पर भी उसकी पत्नी को मरने से बचाने के लिये ५०) का कर्ज नहीं दिया।

सेठ लाभचन्द उसके कड़े तथा नागदा की महारानी का जेवर पाकर बड़ा प्रसन्न था। किन्तु उनकी कल्पनाओं का महल गिरा देने वाली एक घटना उसी समय घटित हुई। थानेदार व सिपाही का वेश बनाकर कुछ लोग वहां आए और वे सेठ को चोरी का माल गिरवी रख लेने के अपराध में पकड़कर ले जाने लगे। सेठ ने उन्हें रिश्वत देकर टालने की भी चेष्टा की, किन्तु वे तो किसी दूसरे ही इरादे से आए थे। उन्होंने सेठ को ले जाकर एक खाली कोठी के द्वार पर बिठा दिया और वहां सुपरिन्टेण्डेट की प्रतीक्षा में उसे छोड़कर चम्पत हो गए। वे वह सब माल तो लेते ही गए, जो नागदा की महारानी के नाम से उनके यहां रखा गया था, महादीन के कड़े भी ले गए। चलते समय वे एक बहरे आदमी को जो सिपाही के वेश में था, वहां बिठा गए थे और उसे २) देकर समझा गए थे कि वह सेठ उस नकली कोठी के भीतर न जाने पाए।

सेठ वहां बैठा-बैठा परेशान हो गया। सारा दिन निकल गया, किन्तु न सुपरिन्टेन्डेन्ट बाहर निकला, न थानेदार या कोई अन्य सिपाही। संध्या होते देख सेठ ने सुपरिण्टेण्डेण्ट को आवाजें दी। भीतर से एक घसियारा बाहर निकला और उसके आने पर सेठ को उस षड़यंत्र का पता चला। पर अब क्या हो सकता था, सेठ का समस्त अर्जित धन तो उन तथाकथित थानेदार व सिपाहियों द्वारा छीना जा चुका था। इस घटना ने सेठ को बहुत दुखी बना दिया। वह घबराकर उसी कुर्सी पर गिर गया, जिस पर वे लोग उसे बिठा गए थे।

(२) इस कथानक द्वारा भट्टजी ने मनुष्य के आर्थिक चरित्र की नई दिशाओं का चित्रण किया है।

आज का युग अर्थ प्रधान है। धन-संचय की प्रवृत्ति ने मनुष्य को पशु बना दिया है तथा समाज में अनेक समस्याएं उत्पन्न कर दी हैं। उसका आर्थिक चरित्र बहुत गिर गया है। धन के समान मनुष्य को कुछ भी प्रिय नहीं रहा। ईश्वर तक को वह धन के पीछे भूला बैठा है। आर्थिक चरित्र के पतन का ही यह परिणाम है कि समाज में अपहरण की प्रवृत्ति के विभिन्न रूप पनप रहे हैं। सेठ उस प्रवृत्ति का यदि एक छोर है, तो डाकू या ठग उसकी दूसरी सीमा कहे जा सकते हैं।

सेठ लाभचन्द का आर्थिक चरित्र इतना गिरा हुआ है कि वह न तो मनुष्य की आवश्यकता को पहचानता है और न किसी के श्रम को महत्व देता है। वह रामसेवक नामक नौकर का वेतन नहीं देता तथा ईश्वर के नाम पर भजन-पूजन करने वाले ब्राह्मणों को बिना उचित दक्षिणा दिए खाली हाथ लौटा देता है। उसके चरित्र का घोर व आर्थिक पतन उस समय हमारे सामने आता है, जब वह महादीन को उसकी पत्नी का इलाज कराने के लिये ५०) भी नहीं दे सकता यद्यपि वह उसके ५००) के आभूषण दबा बैठा है।

सेठ लाभचन्द सदैव इस प्रतीक्षा में रहता है कि कब कौन कर्जदार समय पर रुपया न लौटा पाए और वह उसके आभूषण जब्त कर ले। यह प्रवृत्ति ही ठगों को जन्म देती है, जिनसे वह स्वयं भी ठगा जाता है।

नागदा की रानी के आभूषण बताकर कुछ लोग उससे सात हजार रुपए एंठ ले जाते हैं और बाद में उन आभूषणों को भी वे पुलिस के वेश में आकर पकड़ लेते हैं तथा सुपरिन्टेन्डेट के पास सेठ को ले जाने का षडयन्त्र बनाकर अपने आभूषण भी वापिस ले जाते हैं। महादीन से सेठ ने जो कड़े सस्ते एंठ लिए थे, वे भी उसी जेवर के साथ चले जाते हैं। यों उसे अपने आर्थिक पतन का दण्ड भी उसी के फलस्वरूप मिलता है।

आर्थिक चरित्र की बदलती हुई दिशाओं का एक चित्र लेखक ने महादीन और सेठ के संवाद में अच्छा अंकित किया है। यथा—

"सेठ—ये तो तुम्हारी खुशी है पाण्डे जी। हाँ, इलाज तो कराना ही चाहिए और मकान तो हम भी रखे हैं। कितने का होगा तुम्हारे ख्याल में? साफ साफ बात तो यह है कि उस गहने में अब तुम्हारा कुछ भी बचे नहीं हैं। वैसे मैं तुम्हें दो सौ दे सकं हूँ।

महादीन (खीझकर) मकान के एवज। पांच सौ का माल तीन सौ में रखकर भी तुम्हारा पेट नहीं भरा। उस पर व्याज-दर व्याज की धमकी देकर तुम एक मुसीबत में पड़े हुए की सहायता भी नहीं कर सकते। अब मैं कहाँ जाऊं? स्त्री की अवस्था दिन पर दिन खराब होती जाती है, बीमारी का इलाज नहीं कर सकता। सेठ, तुम में कुछ भी मनुष्यत्व नहीं है? दुष्ट?

महादीन ने सेठ को फटकारते हुए जो कुछ कहा है, उससे आर्थिक क्षेत्र में पतित व्यक्तियों के विषय में लेखक के विचारों की एक स्पष्ट झांकी मिल जाती है। महादीन कहता है—

"सेठ, मेरी स्त्री बिना इलाज के भले ही मर जाय, बिना औषधि के उसके प्राण निकल जायं, लेकिन तुम पांच सौ की चीज तीन सौ में रखकर ऊपर एक पैसा भी देने को तैयार नही हो। (आँखों में आँसू भरकर) यह व्यापार नही है, यह हत्या

है, लूट है। दिन दहाड़े जाता है। तुम्हें चाहे ही नक़ली देकर कोई लूट ले, पर तुम मानवता, कृपा, दया और धर्म के नाम पर किसी की सहायता नहीं कर सकते।"

भट्ट जी ने आर्थिक चरित्र का उद्घाटन करने वाली उक्त दृष्टि के अनुरूप भाषा का प्रयोग किया है। अतः सेठ के चरित्र पर जो व्यंग्य किए गए हैं, उन्हें अभिव्यक्ति पाने में सीधा रास्ता मिल गया है। प्रत्येक पात्र की भाषा में उसका चरित्र बोलता है। स्वभाव की सभी रेखाओं को संक्षेप में स्पष्ट कर देने की अद्भुत क्षमता इस एकांकी की भाषा में पाई जाती है। यथा, सेठ ज्ञानचन्द का स्वभाव लालची है। वह मनुष्यत्व हीन आचरण करता है। भाषा उसी रूप में चित्रित करने में सफल हुई है। उसकी कुछ उक्तियों में भाषा का यह अद्भुत योग-दान देखिए—

"(राम सेवक से)" काम एक भी पूरा न किया, तनखा मांगे है। ये हम कुछ नही सुनना चाहते। वसूली करके लाओ। बैठे की तनखा नही मिलेगी, समझे, जो है सोहे के बीच में काम करो। मुनीम जी, देखो कितने की वसूली की है इसने ?

जब पठान रुपये मांगता है और सेठ जी को उससे जेवर मिलने की आशा नहीं, तो उनकी भाषा में वैसी ही रुखाई फिर व्यक्त होती है—

"इस समय हमें फुर्सत नहीं है पठान ! जाओ अपना काम करो।"

लालच के भाव को अभिव्यक्ति देने वाली यह भाषा देखिए। सेठ जी अपने सामने रखे १२ हजार के जेवरों को ७ हजार में ही हड़पने के लालच से कहते हैं—

"सो तो ठीक है, रानी साहब क्या पराई हैं ? पर········ सात हजार का माल ?" तथा—

"सो तो बात बहुत ठीक है। इतने बड़े सिकत्तर साहब पर कौन सक करे है ? हम कहे है, पांच हजार छोड़कर दस हजार ले जाओ, पर बात ये है कि माल तो सात हजार का है नहीं। तीन हज्जार देसकुं हूं। बोलो दूं।

इस वाक्यावली में भावों के अनुसार उतार चढ़ाव के साथ ही शब्दों के रूप में भी विकार उपस्थित किया गया है। सेठ की भाषा में तद्भव शब्दों का प्रयोग उसकी प्रकृति पर भी पर्याप्त प्रकाश डालता है।

अन्य पात्रों की भाषा भी उन्हीं के अनुकूल है। पठान की भाषा देखिए—

"रास्ता में हमारा········क्या बताये सेठ तुमको। हम बड़ा मुश्किल में पड़ गिया है।"

यहां क्रिया और सर्वनामों के अलावा 'गया' के स्थान पर 'गिया' का प्रयोग ध्यान देने योग्य है। वह आगे कहता है—

"हम ईमानदार आदमी हैं, हम भी व्यापारी हैं। हजारों का व्यापार करता है। मेवा बेचता है। हमारा रुपया खो गया। हम मदरास जा रहा है।" तथा—

"पचास रुपया चाहता है। मदरास से वापस कर देगा सेठ। हमारा पास बम्बई का टिकट है।…………हम व्यापारी है। हजारों का व्यापार करता है। हम शुक्रिया करेगा। तुम्हारा रुपया वापस कर देगा।"

पठान की भाषा में उसकी प्रकृति और विदेशीपन का पूरा प्रभाव है। ब्राह्मणों की भाषा भी देखिए—

"एक ब्राह्मण"—चलो हम समझेंगे. यों ही काम कर दिया। सेठ जी, हम ब्राह्मण हैं, पूजा-पाठ किया है, आशीर्वाद देंगे। कम से कम चार चार रुपए तो हों।

दूसरा ब्राह्मण—"हाँ सेठ जी, आपका ही दिया खाते हैं अन्नदाता। रुपए मिल जायं। आशीर्वाद देंगे।"

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि उदयशंकर भट्ट कृत सेठ लाभचन्द एकांकी समाज की आर्थिक विषमता के पीछे निहित पूंजीवादी वैयक्तिकप्रवृत्तियों का मनोवैज्ञानिक पद्धति से व्यंग्य पूर्ण भाषा में चित्रण करता है। इसके शिल्प में वह शक्ति है, जो कथ्य की प्रभावोत्पादकता को अत्यधिक बढ़ा देती है। भाषा ही अभिव्यक्ति को सजीव या निर्जीव बनाती है। इस एकांकी की भाषा में संजीवनी शक्ति है, इसमें संदेह नहीं। एकांकी-शिल्प की प्राच्य और पाश्चात्य पद्धतियों के प्रभावशाली तत्वों को लेकर भट्ट जी ने अपने कथ्य को युग बोध से युक्त किया है।

: २१ :

मृगनयनी के सम्वादों का सौन्दर्य

सम्वाद अर्थात् कथोपकथन उपन्यास का एक ऐसा तत्व है, जिसके बिना न चरित्र-चित्रण हो सकता है और न कथा का सम्यक् प्रवाह-निर्वाह। पात्रों को सजीव बनाने एवं उपन्यास में सरसता लाने के लिये सम्वादों का सुन्दर होना परमावश्यक है। "मृगनयनी" उपन्यास को दो-तीन वर्षों में ही इतनी अधिक ख्याति मिल गई थी, इसका एक कारण उसके सम्वादों की सुन्दरता भी है। वर्मा जी ने भाषा तो चलती हुई, सीधी-सादी, मुहावरेदार रक्खी ही है, सम्वाद भी इतने सजीव रख दिये हैं कि पहला पृष्ठ पढ़ जाने के पश्चात् पूरा उपन्यास समाप्त किये बिना उसे छोड़ने को मन नहीं होता।

लेखक ने सम्वादों की सृष्टि करने मे इस बात का पूर्ण ध्यान रक्खा है कि कही भी उनमे अस्वाभाविकता न आ जाय। कही भी किसी पात्र के मुख से ऐसी बात नही कहलाई गई, जो उसके चरित्र के स्वाभाविक प्रवाह के प्रतिकूल जाती हो। बातचीत करते समय प्रत्येक पात्र नपीतुली उतनी ही बात कहता है, जितने से उसका चरित्र विकसित होता है तथा कथावस्तु को गति मिलती है। परिस्थितियों का ध्यान रख कर ही वर्मा जी के पात्र बोलते हैं। मानसिक दशा का बातचीत पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसका ध्यान उन्होंने पात्रो के सम्वादों की सृष्टि करते समय पूर्ण रूप से रक्खा है। उनके पात्रों मे सामाजिकता है, सभ्यता है तथा वे चाहे नगर की सभ्यता मे न मिल पाये हों, उनमे विचारों की सांस्कृतिकता है। सभ्यता नाम की कोई चीज उस समय तक निन्नी और लाखी की पहचान मे आई हो या न आई हो, परन्तु जीवन की सरसता का स्त्रोत वह अच्छी प्रकार पहचानती है। होली का त्यौहार मनाया जा रहा है—

"लाखी निन्नी के पीछे है। धीरे से बोली—"निन्नी यह तुम्हारे भाई अटल हैं। कीचड़ और गुलाल में कितने सन गये हैं। पहचान में ही नही आते।"

दूसरे गाल पर क्यों नहीं पुता इसको देखने के लिये अटल ने लाखी पर अपनी दृष्टि फेरी।

"उधर क्या देखते हो लाला यह लो।" एक स्त्री ने कीचड़ का लड्डू फस्स से उसकी छाती पर रेल दिया।

निन्नी और लाखी पुरुषों के साथ होली नहीं खेलतीं, क्योंकि वे उसी गाँव की लड़कियाँ है। उनकी परस्पर की बातचीत मन में कैसी गुदगुदी उत्पन्न करती है, कैसी सरसता भर देती है, कहते नहीं बनता। फिर कितनी सरल भाषा में, जिसमें कहीं भी बनावट का नाम नहीं, कहीं भी छल-कपट के लिये स्थान नहीं।

अटल, लाखी एवं निन्नी जंगल मे शिकार खेलने जाते हैं। लाखी मोर को मार गिराती है। उस समय की उनकी बातचीत कितनी सरलता से भरी हुई है—

अटल ने ऊंचे स्वर में कहा—"देखा निन्नी, लाखी ने कैसा अच्छा निशाना लगाया है।"

निन्नी ने समर्थन किया—"वह तुम्हारी भी गुरू निकलेगी दाऊ।" अटल हंस पड़ा। लाखी भी खिलखिला पड़ी।

अटल बोला—"मैंने तेंदुए को तीर चलाया था, पर मेरा निशाना खाली गया।"

"क्योंकि तेंदुए से तो हम लोगों का पेट नहीं भरता। इस मोर से दो दिन का काम चल जायगा।" लाखी ने कहा।

उपर्युक्त सम्वाद चरित्र-चित्रण पर तथा कथा की स्वाभाविकता पर एक साथ सरसता की धारा का तीव्र प्रवाह छोड़ता है। लाखी, अटल एवं निन्नी के जीवन निर्वाह का एक चित्र भी पाठकों के सामने प्रस्तुत हो जाता है।

एक और उदाहरण देखिये—

"मजूर को पहिचानने में देर नहीं लगी। अनेक बार उस चेहरे को देखा था। उछल कर खड़ा हो गया।

चिल्ला कर बोला—"अपने महाराज! अपने महाराज!!"

स्त्री की कूल-कराह बिलकुल बन्द हो गई। कुछ बच्चों का रोना रुक गया, कुछ सिसकते रहे।

मानसिंह एक हाथ में दाढ़ी लिये हुये हंसते हुए बोला—"यह दाढ़ी बड़ी अभागिन निकली। काम पूरा नहीं करने दिया।"

मजदूर पैरों पर गिरने को हुआ। मानसिंह ने दृढ़ता के साथ वर्जित किया।

मजदूर ने हाथ जोड़े हुए कहा—"महाराज, मुझको क्षमा मिले। आपने यह क्या किया?"

"कुछ भी तो नहीं कर पाया। धिक्कार है मुझको जो मैं तो भरे पेट सो जाऊं और तुम भूखे मरो। मैं महलों में रहूं और तुम इसी झोंपड़ी में भूखे ठण्डों मरो।"

"हमारा भाग्य है महाराज।"

"बिलकुल भ्रम की बात। हमारे भाग्य के आधार तुम्हीं सब जन हो। तुम्हारा भाग्य बुरा रहा तो हमारा पहले ही खोटा हो चुका।"

स्त्री ने वस्त्र का लम्बा घूंघट डाल लिया और पीठ देकर चक्की के पास आ बैठी।

"मैं पीसे देता हूँ, बाई!" मानसिंह ने अनुरोध किया।

स्त्री ने हाथ जोड़े और जुड़े हाथों निषेध का संकेत किया।

दिया बुझने को आ रहा है।

मानसिंह ने कहा—"मैं अभी तेल भिजवाता हूँ और ज्वर की औषध भी। मजूरों के लिये अच्छे मकान बनवाऊंगा, औषधालय खोलूंगा। और देखूंगा, कोई मजूर भूखा न रहे।"

स्त्री की ओर देखकर बोला—"मैं आटा भिजवाये देता हूँ। बीमारी में पीसोगी बाई, ढेर हो जाओगी।"

धीरे से स्त्री ने प्रतिवाद किया—"अब ज्वर नही रहा।"

पुरुष ने समर्थन किया—"मेरी सब थकावट चली गई। मैं अभी पीसे डालता हूँ। उठ री, लेट जा। महाराज की आज्ञा मान।"

कितनी स्वाभाविकता है इस सम्वाद में! साथ ही राजा मानसिंह एवं मजदूरों के चरित्र पर एक साथ कैसा प्रकाश पड़ता है। भारतीय मजदूरों की दशा अत्यन्त खराब है, तब भी वे उसी में सन्तोष करके रह जाते हैं। भाग्यवाद उनके जीवन को किस प्रकार जकड़े हुये है तथा "उसे मिटाने के लिये राजा को क्या करना चाहिये" आदि अनेक बातों पर थोड़ी-सी पक्तियों के सम्वाद में ही लेखक ने पर्याप्त प्रकाश डाला है। मृगनयनी के सम्वाद कही भी सम्वाद के लिये नहीं। उनका सौन्दर्य इसी बात में है कि वे चरित्र और कथा पर एक साथ प्रकाश डालते हैं।

राजा मानसिंह एवं रानी मृगनयनी के सम्वाद की सुषमा देखिये—"वह गीत कौनसा है, जिसे नदी की लहरों को सुनाती थी ?"

"अरे यों ही था कुछ—भूल गई।"

"बतलाओ जल्दी, नहीं तो फिर हाँ.........।"

"गीत था—"जाग पड़ी मैं पिया के जगाए।"

"मुझको सुनाओ।"

"सुनाया तो था पहले।"

"आज फिर सुनाओ।" उसने हठ किया। मृगनयनी ने सुनाया। उसने गीत को इतना सुरीला गाया कि वह स्वयं आनन्द-विभोर हो गई।

बोधन शास्त्री एवं मानसिंह के कथोपकथन में तर्क का एक सौन्दर्यपूर्ण चित्रण देखिये।

"क्या तुम यह नहीं सोचते कि कितने हिन्दू तुम लोगों के इस कट्टरपन के कारण धर्म और समाज से दूर जा पड़ते हैं ?"

"शरीर में फोड़ा या कोढ़ होने से फिर वह अंग काम का नहीं रहता।"

"तुमको कभी फोड़ा या कोढ़ हुआ ?"

"कभी नहीं।"

"होगा तो क्या करोगे ?"

"अंग को काट कर फैंक दूंगा ?"

"विवेक से काम लो शास्त्री।"

"महाराज से मैं क्या निवेदन करूं ? इतना तो भी कहना पड़ेगा कि क्षत्रिय ब्राह्मण को उपदेश देने के लिये नहीं बनाये गये हैं, धर्म और गौ-ब्राह्मण की रक्षा के लिये बनाये गये हैं।"

"बनाये गये है और फिर बनाये जा सकेंगे। जनक, महावीर, गौतम बुद्ध कौन थे ? राम, कृष्ण, अर्जुन इत्यादि कौन थे ? परन्तु शास्त्री, मैं इस विवाद को अनुचित समझता हूँ। इस विवाद से परस्पर कलह फैलेगी। मैं आर्यावर्त्त को अपने पुरखों की भांति प्रबल बनाना चाहता हूँ। मेरी सहायता करो।"

"महाराज ! आर्यावर्त्त वर्णाश्रम मार्ग को स्थिर रखने से ही बच सकता है, अन्यथा नहीं।"

"शास्त्री, सोचो इस प्रकार का कट्टर वर्णाश्रम हिन्दुओं की कितनी रक्षा कर सकता है ? रक्षा के लिये ढाल और तलवार दोनों अनिवार्य रूप से आवश्यक हैं। जाति-पांति ढाल का काम तो कर सकी है और कर रही हैं, परन्तु तलवार का काम न तो हाल के युग में उसने कर पाया है और न कभी कर पाएगी।"

इस सम्वाद से वर्णाश्रम धर्म, जाति-पांति आदि अनेक बातों पर तो प्रकाश पड़ता ही है, साथ ही पुरोहितों की वाद-विवाद करने की प्रवृति एवं अपने को ऊंचा मानने वाले मिथ्याभिमान का भी दृश्य सामने आता है।

वर्मा जी सदा बातचीत के बीच हमारे सामने अनेक समस्याएँ भी प्रस्तुत करते चलते हैं तथा तत्कालीन देश काल की परिस्थितियों पर प्रकाश डालते चलते हैं। यह उनके सम्वादों की विशेषता हैं।

बैजू बावरा के प्रसंग में भी एक उदाहरण लीजिये—

"धा किटकिट धा, किट धा" बैजू के मुंह और पखवाज से एक साथ निकला। फिर वह ठहर कर कुछ सोचने लगा। गुनगुना नहीं रहा था।

उसकी तरफ देखे बिना ही बैजू ने कहा—"अभी नहीं आया, कसर है।"

"धकिट, धकिट धकिटधा" उसके मुंह निकला और हाथ ताल देने लगा, फिर कुछ क्षण चुप रहा। यकायक दांत भींचे और मुट्ठी कसी।

बोला—"लोग कहते हैं, गाना रोना सभी जानते हैं। मूर्ख कहीं के। अभागे न तो ठीक ढंग से रो सकते हैं और न गा सकते हैं। गाने को तो शंकर ने और भी बहुत दुरूह बना दिया है।"

"अब समय आ गया है।" कला ने दुहराया।

बैजू ने एक क्षण रीती दृष्टि से उसकी ओर देखा। मुस्करा कर बोला—"वह आया ! वह आया !! अबकी बार पकड़ कर ही रहूँगा।"

कला अपने गुप्त षडयन्त्र सम्बन्धी विचार पर बैजू को लाना चाहती थी, परन्तु बैजू अपने संगीत में भूला हुआ था। लेखक ने बातचीत के द्वारा किस प्रकार एक गायक की मस्ती का तथा उसकी संगीत-विषयक लय-लीनता का चित्र उभारा है। कलाकार अपनी कला के क्षेत्र में पहुँच कर इस लोक का राग-द्वेष मय प्राणी नहीं रहता। वह तो एक अलौकिक आनन्द का अनुभव करने लगता है। लेखक ने सम्वाद की सुन्दरता के साथ इस तथ्य को चित्रित किया है।

कलाकार कितना भोला होता है, उसका हृदय कितना निष्कपट होता है—यह सब निम्नांकित सम्वाद में देखिये—

बैजू ने यकायक प्रश्न किया—'क्या ग्वालियर का घेरा पड़ेगा ?"

"नहीं पड़ पावेगा," मानसिंह ने दृढ़ता के साथ उत्तर दिया—"हम लोग सिकन्दर से चम्बल की घाटियों में लड़ेंगे।"

बैजू बोला—"घेरा पड़ भी सकता है। ऐसी अवस्था में कला यहां नहीं रहेगी। वह चन्देरी जाना चाहती है।"

कला सकपका गई।

मानसिंह ने बिना चाव से पूछा—"क्यों ?"

बैजू ने भोलेपन के साथ बतलाया—"यह चन्देरी जाकर राव राजसिंह से कह देगी कि ग्वालियर घिर गया है। आप चाहो तो नरवर पर चढ़ाई कर दो और अपनी बापौती को वापस ले।"

"क्या ?"

"क्यों ? इसमें आश्चर्य की क्या बात है ?"

"ओह ! यह राव राजसिंह की कौन है ?"

"कोई नहीं। पड़ौस में रहती थी।"

"अच्छा। ओह।"

कला पसीने–पसीने हो गई।

इस प्रकार अनेक स्थानों पर बात-चीत के सरस प्रवाह में पात्रों की विशेषताएँ व्यक्त की गई हैं, साथ ही कथा को सरस प्रवाह भी प्रदान किया गया है।

मृगनयनी में प्रयुक्त कथोपकथनों की यह विशेषता है कि वे सरल, सीधे हृदय पर चोट करने वाले तथा प्रभावशील होते हैं। वाक्य छोटे-छोटे मुहावरेदार तथा व्यंजनापूर्ण होते हैं। यथार्थ में वर्मा जी ने भाषा को सजाने के साथ-साथ अपने सम्वादों को भी शैली, भाव एवं शब्द-शक्तियों से सजीव किया है। मृगनयनी पढ़ते समय पात्रों के कथोपकथनों में अपने आप मानस रम जाता है। और यही उनकी सफलता है।

: २२ :

तुलसीदास का प्रबन्ध शिल्प : एक नई दृष्टि

गोस्वामी तुलसीदास ने प्रबन्ध एवं मुक्तक दोनों प्रकार के काव्य की रचना की है। उनका प्रबन्ध-काव्य (रामचरितमानस) संसार के प्रबन्ध-काव्यों में अद्वितीय स्थान रखता है। उसकी इस महत्ता के कई कारण हैं। वस्तु, भाव, भाषा, शिल्प विचार आदि सभी दृष्टियों से उसमें अनेक ऐसी विशेषताएँ हैं जो अन्य महाकाव्यों में कम मिलती हैं। इन सभी विशेषताओं का आधार उनका अद्भुत प्रबन्ध शिल्प है। उस शिल्प के कारण उन्होंने अपने प्रबन्ध काव्य में लौकिक अलौकिक तत्वों का ऐसा समाहार किया है कि पाठक को अध्यात्म और भौतिक दृष्टियों से आत्म-तृप्ति की समस्त सामग्री उसमें मिल जाती है। उनकी यह समाहार-प्रवृत्ति प्रबन्ध-शिल्प के एक विशेष दृष्टिकोण के कारण है। वह दृष्टिकोण है, घटनाओं का ऐसे क्रम से संयोजन, जिसमें पात्रों के व्यवहार का समस्त फल पूर्वावस्था में ही निर्दिष्ट रहे। उनकी यह शिल्प-पद्धति वीर गाथाकाल से चली आने वाली कथानक रूढ़ियों की परम्परा का विकास है। चन्दवरदायी ने पृथ्वीराजरासो में स्वप्न, आकाशवाणी, शाप-वरदान आदि सम्बन्धी जो कथा रूढ़ियां अपनाई हैं, उनका प्रयोग इस महाकाव्य में भी हुआ है। ऐसा करके तुलसीदास जी ने हर घटना को नियतिवाद के आधार पर विकसित किया है। यहाँ संक्षेप में उनके प्रबन्ध-शिल्प की इस नियतिवादी दृष्टि को हम स्पष्ट करने की चेष्टा करेंगे।

रामचरित मानस की कथा का निर्माण तुलसीदास जी ने उमा-शिव आदि के संवाद के रूप में किया है। उमा एक जिज्ञासु पात्र के रूप में प्रस्तुत है। शिव उनका संशय मिटाने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु विधाता शिव के विपरीत है। इसलिये वे उनका संशय नहीं मिटा पाते। वे सोचते हैं—

"मोरेहु कहे न संशय जाही
विधि विपरीत भलाई नाही"

जब उमा राम की परीक्षा के लिए जाती हैं तो शिव सोचते हैं—

"होइहि वही जु रामरचि राखा।
को करि तर्क बढ़ावे साखा" ।।

ये पंक्तियां रामचरितमानस के प्रवन्ध-शिल्प का उदघाटन करती हैं । आगे की समस्त कथा तर्क का आधार छोड़कर केवल भक्तिव्यता के आधार पर विकसित हुई है । शिव विवाह प्रसंग के पश्चात् कवि ने नारद-शाप की योजना की है । नारद अपनी तपस्या से कामदेव व इन्द्र के मद का मर्दन करके गर्व में फूले हुए शिवजी के पास आते है और उनके समझाने पर भी वे भगवान् विष्णु को जाकर सब रहस्य बतला देते हैं । वे भगवान् के खेल को समझने में असमर्थ हो, सुन्दरी प्राप्त करने की कामना से अन्त में स्वयंवर में जाकर अपना गर्व खो बैठते हैं । इस घटना से क्रुद्ध होकर वे कहते हैं—

'वंचेहु मोहि जवनि धरि देहा ।
सोइ तनु धरेहु शाप मम एहा ।।'

यह शाप आगे की घटनाओं के संकेत देता है और उन्हें नियत भी करता है । रामावतार की कथा इसके माध्यम से पूर्व नियत हो जाती है । रामचरितमानस के प्रवन्ध में दूसरा महत्वपूर्ण बिन्दु है—राम रावण का युद्ध । इसको नियत करने के लिए उन्होंने प्रतापभानु के शाप का आयोजन किया है । वह एक राजा है और जंगल में घूमता हुआ संध्या हो जाने के कारण थककर मुनिधारी अपने एक पुराने शत्रु की शरण में जाता है । वह कपट वेशी मुनि उसे अपने वाक् जाल में फंसाकर एक राक्षस की सहायता से भोज का आयोजन करता है । वह राक्षस मुनि की योजना के अनुसार राजा के पुरोहित को तीन दिन के लिए जगल की कन्दरा में छिपाकर स्वयं उसके वेश में भोजन बनाता है, जिसमें वह ब्राह्मण का मांस मिला देता है । आमंत्रित ब्राह्मणों के भोजन हेतु बैठते ही वह राक्षस आकाश-वाणी के द्वारा ब्राह्मण-मांस का रहस्य खोल देता है । फलतः आमंत्रित ब्राह्मण प्रताप-भानु को शाप देते हैं—

"सम्वत मध्य नास तव होऊ ।
जलदाता न रहिहि कुल कोऊ ।।"

उसके पश्चात् यह आकाशवाणी होती है कि हे ब्राह्मण । तुमने निरपराध राजा को शाप दिया है, किन्तु ब्राह्मण यह कहकर चले जाते है—

भूपति भावी मिटहि नहिं ।
जदपि न दूषण तोर ।।
किये अन्यथा होम नाहिं । विप्र शाप अति घोर ।।

समय पाकर वही राजा प्रतापभानु रावण के रूप में जन्म लेता है—

काल पाय मुनि सुनु सोइ राजा । भयऊ निसाचर सहित समाजा ॥

दससिर ताहि बीस भुज दण्डा । रावण नाम वीर बरि बण्डा ॥

इस प्रकार तुलसीदास जी ने रामचरितमानस के प्रबन्ध में राम और रावण के अवतारों का कारण स्पष्ट किया है और आगे आने वाली सभी घटनाओं के पूर्व संकेत दिये हैं। हम उनकी प्रबन्ध-दृष्टि को नियतिवादी शिल्प-विधि कह सकते हैं। शाप और वरदानों के माध्यम से पात्रों के जीवन की जो सक्रियता उन्होंने आरम्भ में निश्चित की है, उसी के अनुसार आगे का समस्त घटना चक्र घूमा है। रावण के राक्षस-परिवार से भयभीत पृथ्वी और देवताओं की प्रार्थना सुनकर आकाशवाणी होती है—

जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा । तुमहि लागि धरिहहुँ नर-वेसा ॥

अन्सन्ह सहित मनुज अवतारा । लेहउँ दिनकर-वंस उदारा ॥

कश्यप अदिति महातप कीन्हा । तिन्ह कहुं मैं पूरब वर दीन्हा ॥

ते दशरथ कौसल्या रूपा । कोशलपुरी प्रकट नर-भूपा ॥

तिनके गृह अवतरि हहूँ जाई । रघुकुल तिलक सो चारिउ भाई ॥

नारद वचन सत्य सब करिहउँ । परम शक्ति समेत अवतरिहउँ ॥

हरिहउँ सकल भूमि भय आई । निर्भय होंहि देव समुदाई ॥

इन पंक्तियों में शाप, वरदान और आकाशवाणी—इन तीनों माध्यमों का समावेश हुआ है, जिनके द्वारा कवि का प्रबन्ध शिल्प रामचरितमानस की कथा और पात्रों के चरित्र को अद्भुत प्रभाव से परिपूर्ण करने में सफल हुआ है। आकाशवाणी के अनुसार राम मनुष्य के रूप में अवतार लेते हैं। मनुष्य रूप में आने का कारण भी रावण को मिले वरदान में निहित है। देखिये—

हम काहू के मरहि न मारे । वानर मनुज जाति दोउ वारे ॥

एवमस्तु तुम बड़ तप करना । मैं ब्रह्मा मिलि तेहि वर दीना ।

स्पष्ट है कि रावण, वानर और नर दो जातियों को छोड़कर अन्य किसी से मारा नही जा सकता। किन्तु ब्राह्मण शाप के अनुसार रावण की मृत्यु भगवान के द्वारा हो चुकी है, अतः वे नर बनकर आते हैं और वानरों की सहायत से उसका वध करने की भूमिका बनाते हैं।

दशरथ के मनुष्य रूप में उत्पन्न राम जब बड़े हो जाते हैं तो नियति की प्रेरणा से वे विश्वामित्र के साथ लक्ष्मण सहित उनके आश्रम में जाते हैं जहाँ अनायास उन्हें जनकपुर जाने का सौभाग्य प्राप्त हो जाता है। धनुष तोड़कर वे सीता से विवाह कर लेते हैं और अयोध्या में आकर राज्याभिषेक का सम्मान पाने के लिए उद्यत

होते हैं। किन्तु भवितव्यता कुछ और ही है। पूर्व कथित शाप-वरदान और आकाश-
वाणी के अनुसार उन्हें रावण को मारकर 'सुर नर मुनि' सबकी रक्षा करनी है।
अतः मन्थरा के द्वारा कैकयी की बुद्धि को बदलने वाली भवितव्यता सामने आती है—

तस मति फिरि अहउ जस भावी।
रहसि चेरि गात जनु फावी॥

कैकयी नियति प्रेरणावश राम के स्थान पर भरत को राजा बनाने की
अभिलाषा व्यक्त करती है। राम वन को जाते है तथा दशरथ का देहान्त हो जाता है।
वन में कोल भील उन्हें वनफल भेंट करने आते हैं और कहते है कि हे राम ! हमारे
ही भाग्य से आपका वन में आगमन हुआ है। अन्त में सीता हरण के पश्चात् मन्दोदरी
अपने पति रावण को समझाने में असमर्थ हो चिन्तित हो कर भाग्य को दोष
देती है—

मन्दोदरि हृदय कर चिन्ता।
भयउ कन्त पर विधि विपरीता॥

राम सेना लेकर समुद्र पार कर जाते हैं, तो मन्दोदरी फिर रावण को
समझाती है—

तासु विरोध न कीजिये नाथ
कालु करम जिव जाके हाथ॥

किन्तु रावण उसकी राय फिर भी नहीं मानता। मन्दोदरी समझ लेती है
कि वह पूर्णतः काल के वशीभूत है—

मन्दोदरि हृदय अस जाना।
काल वस्य उपजा अभिमाना॥

वह एक बार फिर समझाती है—

काल दण्ड गहि काहु न मार। हरहि धर्म बल बुद्धि विचारा॥
निकट काल जहि आवत साईं। देहि भ्रम होहि तुम्हारि हि नाईं॥

अन्त में बार-बार समझाने का कोई परिणाम नहीं निकलता वही होता है
जो कवि ने शाप-वरदान और आकाशवाणी के द्वारा नियत कर दिया है। रावण का
भाई कुम्भकरण भी यही मानता है कि काल के वशीभूत जो हो जाता है, वह किसी
की शिक्षा को नहीं मानता। रावण राम के द्वारा मारा जाता है और उसके साथ
राक्षस दल का भी संहार हो जाता है। मन्दोदरी अपने पति के शव को पकड़ कर
रोती हुई कहती है—

काल विवस पति कहा न माना ।

अगजग नाथ मनुज करि जाना ॥

इस प्रकार तुलसीदास जी ने रामचरितमानस में प्रबन्ध-शिल्प की नियतिवादी दृष्टि का प्रयोग करके कथा और चरित्र में रोचकता और प्रभाव अत्यधिक मात्रा में उत्पन्न कर दिया है। राम-सीता को लेकर लक्ष्मण सहित अयोध्या लौटते हैं और उस समय भरत तथा प्रजा का पुनः भाग्योदय होता है।

रामचरितमानस के प्रबन्ध-शिल्प की नियतिवादी दृष्टि काव्य का भाव और विचार पक्ष पूर्णतः संतुलित बन सका है। जहाँ करुणा, निराशा, हताशा आदि के गंभीर स्थल हैं, वहाँ नियतिवादी दृष्टि के कारण आस्था विश्वास और आशय का समावेश स्वतः हो गया है। फलतः चरित्रों में संयम आ गया है और उनका वैचारिक पक्ष अत्यधिक पुष्ट जीवन दर्शन प्राप्त कर सका है। काव्यसौन्दर्य की मार्मिकता नियतिवादी दृष्टि के कारण ही तुलसी के प्रबन्ध-विधान को प्राप्त हुई है। मुक्तक छन्दों के माध्यम से भी तुलसी ने जिन पुस्तकों में राम की कथा प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है और प्रबन्ध का रूप उनमें जिस सीमा तक आया है, उस सीमा तक उनमें भी तुलसी की नियतिवादी शिल्प-दृष्टि मिल जाती है। अतः इस दृष्टि को हम तुलसी के प्रबन्ध शिल्प का एक प्रिय आधार मान सकते हैं, जिसने उनके प्रबन्ध-काव्य को उच्च स्तर एवं लोकप्रियता का गुण प्रदान किया है।

: २३ :

हिन्दी-महाकाव्य-परम्परा और 'एकलव्य'

हिन्दी में महाकाव्य-परम्परा का आरम्भ 'पृथ्वीराज-रासो' से माना जाता है। यद्यपि इस ग्रन्थ को कुछ विद्वान् 'रामचरित मानस' से प्राचीन नहीं मानते, किन्तु कवि के जीवन-काल और विषय-वस्तु को देखते हुए उनकी यह धारणा भ्रान्त ही सिद्ध होती है। इस महाकाव्य में पृथ्वीराज चौहान के जीवन की ऐतिहासिक घटनाओं का विस्तार से वर्णन है। उन घटनाओं में प्रबन्धात्मकता तो है, किन्तु कारण-कार्य सम्मत कथावस्तु संघटन जैसी कला का अभाव है। वर्ण्य विषय राजमहल और युद्ध की सीमाओं से घिरा हुआ है। इसकी भाषा डिंगल है और कवित्त, सवैया, छप्पय आदि की छन्द-शैली अपनाई गई है। चन्दबरदायी के इस महाकाव्य के पश्चात् जायसी के 'पद्मावत्' और तुलसी के 'रामचरित मानस' के नाम आते हैं। ये दोनों ग्रन्थ भाषा और शैली की दृष्टि से बहुत निकट हैं। दोनों में अवधी भाषा और दोहा-चौपाई की शैली का प्रयोग हुआ है। किन्तु विषय-वस्तु और संघटन-दृष्टि में अन्तर है। पद्मावत इतिहास के आधार पर रहस्यवादी वस्तु-शिल्प का प्रयोग करता है और फारसी मसनवी शैली अपनाता है, जबकि 'रामचरित मानस' में पौराणिक कथा आध्यात्मिक आधार पर संस्कृत-महाकाव्यों की शैली में प्रस्तुत की गई है। इसके पश्चात् 'रामचन्द्रिका' को महाकाव्य-परम्परा में गिना जाता है, जो वास्तव में महा काव्य नहीं है। रीतिकाल में 'रामाश्वमेघ' आदि कतिपय अप्रकाशित महाकाव्यों का उल्लेख किया जा सकता है, किन्तु कथ्य और शिल्प की दृष्टि से ऐसे महाकाव्यों ने किसी नई परम्परा को आरम्भ नहीं किया। आधुनिक काल में 'प्रिय प्रवास' से साकेत, कामायनी, रामचरित-चिन्तामणि, सिद्धार्थ, नूरजहाँ, तारकवध, पार्वती, उर्मिला, उर्वशी, वाणाम्बरी, सारथी और लोकायतन तक महाकाव्यों की दीर्घ परम्परा मिलती है। दैव वंश, 'रावण' आदि महाकाव्य भी लिखे गये, किन्तु विषय और शिल्प की दृष्टि से वे पुरानी परम्परा के ही अवशेष हैं। खड़ी बोली महाकाव्यों की परम्परा कुछ नई विशेषताएँ लेकर सामने आई, जो 'एकलव्य' में भी मिलती है। प्रियप्रवास से ही पुराने विषयों को नये ढंग से प्रस्तुत करने का क्रम आरम्भ हो गया था। विषय और शैली दोनों में ही नवीनता की खोज होने लगी थी। इसलिए प्रियप्रवास के कृष्ण लोक-नायक बन गये और उनसे सम्बन्धित सारी कथाएँ

उनकी लोक सेवा की प्रमाण-वस्तु सिद्ध की गई। राम में भी गुप्त जी ने भगवान् के स्थान पर लोक-मुक्तिकारी महामानव के दर्शन किए और उर्मिला तथा लक्ष्मण लोक-जीवन के लिए त्याग और बलिदान करने वाले स्त्री और पुरुष का आदर्श बने। लोकायतन तक विषय को प्रस्तुत करने की यही पद्धति चली आई। पन्त जी ने अपने इस महाकाव्य में पौराणिक पात्रों व घटनाओं को ही हटा दिया और प्रत्यक्षतः लोक-पात्रों को वर्णन का विषय बनाया। 'एकलव्य' लोकायतन से पहले की रचना है। इसलिए इसमें प्रिय-प्रवास और लोकायतन के मध्य की स्थिति मिलती है। इसमें कथा और पात्र तो पुराण से ही लिये गये हैं, किन्तु उनको जो रूप दिया गया है, वह पूर्णतः लोक-भूमि से उठता है।

'एकलव्य' महाकाव्य महाभारत के प्रसिद्ध पात्र एकलव्य की शिक्षा प्रस्तुत करता है। द्रोणाचार्य गुरुकुल चलाते थे। ब्राह्मण होने के कारण स्वतन्त्र रहकर शिक्षा देना उनका धर्म था, किन्तु राजनीति उनके ऊपर प्रधानता पाने लगी और गुरुकुल राजकुल में परिवर्तित हो गया। परिणाम-स्वरूप शिक्षा का द्वार उन लोगों के लिए बन्द हो गया जो राजकुल के नहीं थे। एकलव्य शूद्र था, सामान्य जन था। द्रोणाचार्य को उसकी प्रतिभा से परिचित होने पर भी अपने गुरुकुल में उसे स्थान देना अस्वीकार करना पड़ा। एकलव्य ने उनकी मूर्ति को साक्षी बना कर शस्त्र-साधना की और वह राजपुत्रों से अधिक कुशल विद्यार्थी सिद्ध हुआ। राजनीति की प्रेरणा से द्रोणाचार्य ने उससे अंगूठा कटवाकर उससे ऐसी दक्षिणा ली, जिससे उसकी सारी साधना निष्फल हो गई। महाभारत की इस कथा को 'एकलव्य' में सूत्र रूप में स्वीकार किया गया है और उसके ऊपर आधुनिक युग जीवन की विषमताओं की विषय वस्तु लोक जीवन के विभिन्न तानों-बानों से बुनी गई है।

'एकलव्य' महाकाव्य हिन्दी महाकाव्यों की परम्परा में कथा और पात्रों की दृष्टि से प्रियप्रवास और साकेत वाली शृंखला में स्थान पाता है, किन्तु विषय-वस्तु की दृष्टि से वह लोकायतन से पहले लिखा जाने पर भी लोकायतन के आगे की कड़ी है। प्रियप्रवास, साकेत, कामायनी आदि में किसी न किसी रूप में विषय-वस्तु से हमारे जीवन का अतीत पक्ष जुड़ा हुआ है। इसमें जो पात्र हैं, वे न तो अपनी पौराणिकता छोड़ सके हैं और न आदर्शों से ही उनको मुक्ति मिली है। कृष्ण, राम, मनु आदि मानव तो हैं, किन्तु लोक-जीवन से उठकर बने हुए मानव नहीं हैं, देवत्व से विकसित होकर महा मानव बने हैं। इसलिए उन पात्रों द्वारा जो बात कहीं गई है, वह लोक-जीवन के सामान्य धरातल को नहीं छूती। आकाशवाणी की तरह ऊपर से निकल जाती है। हरिऔध, गुप्त, प्रसाद आदि सभी कवि अपने पात्रों को लोक-जीवन के निकट लाने की चेष्टा अवश्य करते रहे हैं, किन्तु उस चेष्टा में यह स्पष्ट झलक जाता है कि वे उन्हें ऊपर के किसी आकाश से झुका रहे हैं, नीचे से उठाकर

लोक-जीवन में नहीं फैला रहे हैं। एकलव्य के कवि डा० वर्मा ने हिन्दी महाकाव्यों के इस अभाव को बड़ी गहराई से समझा है। उनके बाद लिखे गये लोकायतन तक में यह दृष्टि व्यापक रूप में नहीं मिलती है। लोकायतन जन-जीवन का कोलाहल है। कोई स्वर अलग से अपना अस्तित्व धारण नहीं कर सका। इसीलिए उसमें लोक जीवन की कोई दृष्टि उभर कर नहीं आ सकी, जो एकलव्य में आई है। लोकायतन में ऐसा लगता है कि उसमें आधुनिक जीवन की अभिव्यक्ति विराट् रूप में तो है, किन्तु वह एक ऐसा जंगल बन गई है, जहाँ कोई भी राह पाना असम्भव है। महाकाव्य कला होता है, इसलिए वह जो कुछ कहना चाहता है और जिस रूप में कहना चाहता है, वह सब सम्प्रेषणीय होना चाहिए। 'एकलव्य' में ऐसा ही हुआ है।

'एकलव्य' का विषय विराट् जनजीवन पर आधारित न होकर उसकी मूलभूत कुछ युगीन समस्याओं पर आधारित है। डा० वर्मा ने आज के जीवन की कुंजी को पहचाना है। इसीलिए वे लोक-जीवन की अभिव्यक्ति के लिए न तो पंतजी की तरह कहीं भटके हैं और न गुप्त, प्रसाद आदि की तरह आदर्शों के पीछे ही उड़ते चले गये है। एकलव्यकार को अपना पथ ज्ञात है, उसी पर वह आँखे खोलकर बड़े साहस से चला है। वह जानता है कि आधुनिक जीवन विज्ञान के शिकंजे में कसा हुआ है। विज्ञान जीवन की सहज स्थिति नहीं है, विशेष शिक्षा और अभ्यास की देन है। आज का जीवन एकलव्य की तरह है, जो एक ओर सहज रहना चाहता है और दूसरी ओर उसे विज्ञानानुवर्तिनी आज की राजनीति से समझौता रखने के लिए विशेष शिक्षा और अभ्यास की भी आवश्यकता है। राजनीति एकलव्य जैसे सहज जीवन को उस शिक्षा और अभ्यास से वंचित रखना चाहती है, जिसके बिना विज्ञान उसे पीस डालेगा शिक्षा का सूत्र आज गुरु के हाथ में नहीं है। राजनीति ने गुरु को अपने अधीन कर लिया है, इसलिए लोक जीवन एक ओर तो विज्ञान का अनुकरण करने के लिए विवश है और दूसरी ओर उस अनुकरण की समता जिस शिक्षा और अभ्यास से आती है, उससे राजनीति उसको वंचित कर रही हैं। आज के जीवन में जो समस्याएँ हैं, जो विषमताएँ हैं, जो विडम्बनाएँ हैं, उनका मूल डा० वर्मा ने शिक्षा में खोजा है। और इसी एक दृष्टि को उन्होंने पूरी आस्था के साथ प्रस्तुत किया है। इसलिए एकलव्य महाकाव्य में पौराणिक पात्रों के रूप में जहाँ महाकाव्य की परम्परा अपने पूरे स्वर के साथ गूंजती है, वहाँ दूसरी ओर कवि का युगीन जीवन भी अपना पूरा उद्घोष करता है। द्रोणाचार्य ने महाभारत के एकलव्य की साधना को भले ही खण्डित कर दिया हो, किन्तु रामकुमार वर्मा को लोक-जीवन की साधना खण्डित हो जाने के बाद भी अखंड आस्था का शंखनाद करती है। यह शंखनाद 'एकलव्य' महाकाव्य में हर चरण पर मिलता है। एकलव्य कितना ही तुच्छ और दुत्कार्य क्यों न हो, किन्तु वह कहीं भी जीवन के संघर्षों में हारा नहीं है। कवि ने उसे जिस लोक-भूमि से उठाया

है, उस भूमि में कहीं भी कम्पन नहीं है। एकलव्य ने गुरु द्वारा अस्वीकार किये जाने पर भी शस्त्र-साधना पूरी आस्था और साहस के साथ की है। वह भूमि पुत्र के रूप में अपने ऊपर गर्व करता है और जीवन के मूल्य को भली प्रकार समझता है। इसी-लिए उसकी घोषणा है—

भूमि पुत्र होना, मेरे भाग्य का सुयोग है,
भूमि पति में तो मुक्त मानव विकृत है।
मूल्य नहीं जानते वे जीवन की गति का,
सुख है निमेष-जैसा, दुःख लम्बी दृष्टि है।
अरे, यह जीवन विभूति ही है भूमा की,
सुख तो छिपा है यहाँ सृष्टि के विविर में।
खोजो उसे। दुःख तो विवशता तुम्हारी है,
आलस तुम्हारा सृष्टि क्रम का न अंग है। पृ० १७७

निश्चय ही एकलव्य महाकाव्य में वह जीवन-दृष्टि कथ्य का मुख्य अंग बन कर अभिव्यक्त हुई है, जो हिन्दी-महाकाव्य-परम्परा में अन्यत्र दुर्लभ है। इस महा-काव्य में प्रामाणिक आधुनिक व्यक्ति का सत्य पक्ष प्रस्तुत किया गया है। यह पक्ष जहाँ एक ओर व्यक्ति की घुटन और तुच्छ स्थिति से जुड़ा हुआ है, वहाँ दूसरी ओर उस स्थिति से निकलने की जिजीविषा भी उसके अहम् का भीतर से बाहर की ओर विस्तार करती है।

इस दृष्टि से 'एकलव्य' महाकाव्य आधुनिक कविता का चरम विकास अपने अन्दर समेटे हुए है। डा० वर्मा का एकलव्य कितनी जिजीविषा के साथ कहता है—

किन्तु भूमि पुत्र उठता है जैसे भूमि से,
पत्थरों की सन्धियों में सूर्य की किरण का।
हाथ आता है उसे उठाने को प्रभात में,
ओस से नहाता हुआ बादलों की ओट में।
वायु की तरंगो में उठाता शीश अपना,
पैर देके कटकों के बीच खड़ा होता है
सूर्य की प्रखर अग्नि उसका बिछौना है।
झंझा का प्रहार उसे यौवन का व्रत है। पृ० १७६

वर्मा जी ने 'एकलव्य' में आधुनिक जीवन की अभिव्यक्ति ही नही की, उसे

एक दिशा भी दी है। उन्होंने मानव के भविष्य की राजनीति के प्रभाव से मुक्त करने के लिए मनुष्य की साधना को जगाया है। आज के मानव-जीवन की विडंबना यही है कि मनुष्य का 'अहं' कदम कदम पर राजनीति से कुंठित हो रहा है। इसलिए समाज में विषमता है, इसीलिए युद्ध होते हैं और इसीलिए ज्ञान और विज्ञान निष्फल होते जाते हैं। अगर एकलव्य महाकाव्य के सन्देश को पहचाना जाय तो आधुनिक मानव-जीवन को वह सब उपलब्ध हो सकता है, जिसके लिये वह तड़प रहा है। निश्चय ही एकलव्य का कथ्य और उसकी यह दृष्टि हिन्दी महाकाव्य-परम्परा में अन्यत्र नहीं मिलेगी।

जहाँ तक शिल्प का प्रश्न है, एकलव्य में परम्परा की नई कविता की विशेषताओं तक विकास दिखाया गया है, और पुरानी काव्य शैली को नूतन रूप देने की पूर्ण चेष्टा की गई है। इस चेष्टा में कवि इतना सफल हुआ है कि कहीं भी पुरानापन अनुभव नही होता। भाषा, छन्द, अलंकार, बिम्ब-योजना, प्रतीक-पदावली, उक्ति वैचित्र्य, सबमें एक अदभुत नयापन, एक अनोखी ताजगी, अनुभव होती है। तुकान्त-हीन छन्द और नई नई उपमाएँ इस महाकाव्य के शिल्प का प्राणतत्व हैं।

डा० वर्मा ने शब्द-चयन से लेकर शब्दों की स्थापना, उसके सन्दर्भ अर्थों की व्यंजना और कथ्य-वस्तु के बिम्बों का निर्माण करने तक नितान्त नूतन दृष्टि से शिल्प के प्रयोग किये है। प्रत्येक सर्ग में सन्दर्भो को नई शब्द योजना मिलती है। किसी भी शब्द को हटाकर उसके स्थान पर दूसरा शब्द रखना सम्भव प्रतीत नहीं होता। क्योंकि जहाँ जो शब्द है, वहाँ वही उस अभिव्यक्तियों में समर्थ है, जो कवि प्रस्तुत करना चाहता है। अनेक स्थानों पर शब्दों से स्थूल वस्तुओं के ही नहीं, सूक्ष्म भावों के भी चित्र अंकित हो जाते हैं। कहीं कहीं तो ध्वनियों को भी शब्दों में ज्यों का त्यों बांध दिया गया है। विशेषता यह है कि हरेक प्रकार के यथार्थ से डा० वर्मा के शिल्प ने जीवन का आदर्श जो दिया हैं। उदाहरणार्थ—

१. पल्लवों की श्रेणी छाया पट सी है मंडिता,
जैसे शक्ति शीलता में है क्षमा कसी हुई। (पृ० १६२)

२. तर्क से भी पैना और द्रुत कल्पना से भी,
तीर चलता है जैसे भाग्य की प्रगति है। (पृ० २०६)

× × ×

लक्ष्य वेध करके वे ऐसे लौट आते हैं,
जैसे प्राण लौट लौट आते पुनर्जन्म में। (पृ० २०७)

३. बादलों में लक्ष्य वह इस भाँति लेता है,
बाण रेखा विद्युत की रेखा बन जाती है। (पृ० २१०)

सादृश्य विधान की नवीनता सर्वत्र उपलब्ध होती है। विशेषता यह है कि इस नवीनता में भी परम्परा का निर्वाह जुड़ा हुआ है। यथा—

एक रेखा में अनेक बाण चले जा रहे हैं,
एक रूप है, परन्तु भिन्न भिन्न लक्ष्य हैं।
आगे-पीछे या कि वाम-दक्षिण के पार्श्व में।
उनकी चमक है या काव्य का चमक है। (पृ० २२०)

इस उदाहरण में वाणों की गति, उनकी चमक आदि का यहां शब्द-बिम्ब प्रस्तुत हुआ है, वही काव्य का चमक के साथ सादृश्य विधान भाव को कितना मार्मिक बना देता है। यह सहज में समझा जा सकता है। वस्तु-चित्रण में लेखक ने सादृश्य विधान की यह नवीनता काव्य मे सर्वत्र अपनाई है। एकलव्यकार की यह विशेषता है। वह एक बार जो उपमा देता है, उसे फिर नहीं दुहराता। आगे सर्वत्र वह नवीन उपमाओं को प्रस्तुत करता है। उसकी यह नवीनता ऐसी नहीं हैं, जो परम्परा से कटी हुई होने के कारण दुर्बोध हो जाये। उसने बड़ी कुशलता से सर्वत्र अपने शिल्प विधान में अतीत से भविष्य तक के समस्त विस्तार को जोड़ा है। एक उदाहरण देखिए—

एक है भयानक अरण्य घने वृक्षों से,
भूमि है कसी हुई सी जैसे कर्म काण्ड की
जटिल क्रियाओं के मध्य धर्म बँध जाता है,
और किसी पान्थ का प्रवेश नहीं होता है। (पृ० २१३)

इसी प्रकार जंगल की निर्जन भूमि का चित्र अंकित करते हुए भाषा और अभिव्यंजना में शिल्प की नितान्त नवीनता निम्नांकित पंक्तियों में द्रष्टव्य है—

निर्जन अरण्य भूमि जैसे अन्धी वृद्धा है,
बैठी हुई शून्य सी है विवश एकान्त में।
अस्त-व्यस्त वस्त्र सा विषम धरातल है,
कहीं गिरा नीचे और कहीं टेढ़ा मेढ़ा है।
पेड़ जैसे अष्टावक्र खड़े ज्ञान मुद्रा में,
जनक विदेह की सभा में शास्त्रार्थ हेतु।
झाड़ियों के झुंड जैसे वीतरागी संत हैं।
जटिल झुकाए शीश चिन्तन में लीन है। (पृ० १७४)

इन पंक्तियों में निर्जन अरण्य भूमि की अन्धी वृद्धा से उपमा केवल रूप तक सीमित नहीं रही। आन्तरिक विवशता का भाव बोध ही कवि की अनुभूति में समाया हुआ है। अरण्य भूमि के विषम धरातल के लिए अन्धी वृद्धा के अस्त-व्यस्त वस्त्रों की उपमा इतनी सटीक है और आगे ज्ञान की परम्परा से जोड़ने वाले अष्टावक्र को पेड़ के उपमान के रूप में प्रस्तुत करके तो कवि ने अपने शिल्प की अदभुत क्षमता ही दिखा दी है। वीतरागी सन्त और झाडियों के झुंड रूप का नहीं अपनी आन्तरिक स्थिति का बोध कराते है। महाकाव्य जीवन के विराट परिवेश को लेकर चलता है। इसलिए उसका शिल्प तभी सार्थक होता है जबकि वह अतीत और भविष्य को जोड़ दे। डा० वर्मा के शिल्प में यह क्षमता पूर्ण रूप में वर्तमान है। जैसा कि उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है। आज की नई कविता का शिल्प अपने चल विकास में यह आधार लेकर चल रहा है कि वह व्यक्ति की प्रामाणिकता का चित्रण करना चाहता है। डा० वर्मा ने एकलव्य में इस शिल्प का सामर्थ्य सर्वत्र प्रकट किया है। उदाहरणार्थ एकलव्य की एक स्थिति का यह चित्र देखिए—

धूमिल प्रकाश की उदासी बीच वेग का
वलय बना सा एकलव्य समासीन है।
विद्युत तरंगों जैसी राशि-राशि भावना
चक्राकार रूप में प्रखर गतिशील है। (पृ० १७५)

निश्चय ही एकलव्य महाकाव्य का शिल्प विधान हिन्दी महाकाव्य परम्परा में सबसे आगे की कड़ी है। लोकायतन तक के महाकाव्यों में शिल्प के ऐसे प्रयोग खोजने पर भी नहीं मिलेंगे। कामायनी का शिल्प विधान छायावादी परम्पराओं से जड होकर रह गया है, तो लोकायतन के शिल्प विधान में पन्त जी की चिन्तन प्रवृत्ति एक आवरण बन कर छा गई है। एकलव्य में कहीं भी शिल्प प्रवाह में जड़ता, खण्डता और वाह्य आवाहन नहीं है। उसकी भाषा काव्य के उतने ही निकट है, जितना उसका कथ्य कवित्व पूर्ण है। आजकल यह विचार चल पड़ा है कि कविता कथ्य में होती है, या भाषा में होती है। एकलव्य महाकाव्य इस विवाद को यह सिद्ध करके समाप्त करता है कि कविता कथ्य और भाषा दोनों में अन्तर्व्याप्ति रहती है। अतः एकलव्य हिन्दी महाकाव्य परम्परा में मौलिकता और नवीनता की दृष्टियों से अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

———

: २४ :

राजस्थानी काव्य में वीर-भावना

मीलों तक मरु टीले पहाड़ियां, घाटियां, जंगल और झीलें। कैसा विचित्र है यह राजस्थान। यहाँ वीरता जन्म लेती है, पलती है, बढ़ती है और अपनी गाथाओं से संसार को चमत्कृत करती है। अंग्रेज इतिहासकार जेम्स टॉड ने जब इस वीर भूमि के इतिहास को पहली बार समझा था, तो वह चकित होकर कह उठा था-"राजस्थान की भूमि में ऐसा कोई फूल नहीं उगा, जो राष्ट्रीय वीरता और त्याग की सुगन्ध से भर कर न झूमा हो, वायु का एक भी झोंका ऐसा नहीं उठा, जिसकी झंझा के साथ युद्ध देवी के चरणों में साहसी युवकों का प्रयाण न हुआ हो। "ऐसे वीर प्रदेश राजस्थान की लोक भाषा राजस्थानी का अधिकांश साहित्य यदि आदि से अन्त तक वीर भावना की अखण्ड परम्परा से भरा हो तो उसमें आश्चर्य की कौनसी बात है। विश्व कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने उस साहित्य पर मुग्ध होकर एक बार कहा था—"राजस्थान ने अपने रक्त से जो साहित्य रचा है, उसकी जोड़ का साहित्य अन्यत्र कहीं नहीं पाया जाता।" वह साहित्य भारत के गौरव का प्रतीक है, भारतीय लोगों की स्वतन्त्रता और जन मंगल की आकांक्षाओं का अमर इतिहास है। उसमें राजस्थानी पुरुष का ही नहीं, स्त्रियों और बच्चों तक का अद्‌भुत उत्साह और त्याग हिलोरे ले रहा है। मातृभूमि के पुजारी, स्वतन्त्रता के मतवाले बात के धनी, बलिदान के राही और ऊँचे से ऊँचे लक्ष्य तक पहुँचने के लिए दृढ़ निश्चय कर तलवार की धारों पर चलने वाले यहाँ के निवासी राजस्थानी काव्य में काल की छाती पर एक लम्बी यात्रा करते आ रहे हैं। वीर भावना की जो मशाल उस साहित्य में एक बार जली तो वह आज तक नहीं बुझी। न बुझेगी। और क्यों बुझे? राजस्थान का प्राण जिस अम्बा से उस मशाल की ज्योति प्राप्त करता है, वह बीस भुजा वाली ऐसी सिंह-वाहिनी है—

वड़के डाढ वराह, कड़के पीठ कमट्ठूरो।
धड़के नाग धराह, वाघ चढ़ै जद वीस-हथ॥

वही अम्बा जननी में अवतरित होकर राजस्थान के शिशुओं को झूलों में झुलाती हुई गाती गाती सिखाती है कि हे पुत्र। रण क्षेत्र में प्राण दे देना, पर अपनी मातृभूमि दूसरों के हाथ में मत जाने देना—

इला न देणी आपणी, रण खेतां मिड़ जाय।
पूत सिखावे पालणें, मरण बड़ाई माय ॥

वीर माता ही वीर पुत्र को उत्पन्न करती है और वही पुत्र मातृभूमि के महत्व को पहचान सकता है, यही अपने प्राण देकर भी उसका ऋण चुका सकता है। विश्व में राजस्थानी कवियों को ही वह प्रतिभा प्राप्त रही हैं, जो ऐसे पुत्रों की वीरता को शब्दों में बाँध सके। डिंगल पिंगल के कवि चंद से लेकर पृथ्वीराज, दयालदास, दुरसाजी, करणीदान, बांकीदास, सूर्यमल और बख्तावर आदि से होती हुई वह प्रतिभा भरत व्यास, मेघराज मुकुल तक विकास करती चली आई हैं। राजस्थानी का हर प्रतिभाशाली कवि माता के हृदय में प्रवेश कर मातृभूमि और स्वतन्त्रता के लिए वीरता की भावना का अमर काव्य लिखता रहा है। तभी तो वह देख सका है कि वीर जननी का पुत्र जनमते ही नाल काटने की छुरी को लेने के लिए झपटने लगता है—

हूँ बलहारी राणियाँ, भ्रूण सिखावण भाव।
नालो वाढण री छुरी, झपटै जणियों साव ॥

जन्म के साथ ही उसकी रग रग में वीरता समा जाती है। कवि कहता है कि पिता के वीर-गति प्राप्त कर लेने और माता के सती हो जाने पर अकेला रह जाने वाला शिशु अंगूठा चूस चूस कर ही घर की रखवाली करता है।

बाप कट्यो मायड़ बली, घर सूनों जाणीह।
पूत अंगूठो चूखनें, राखै निगराणीह ॥

सपूत की तो बात ही छोड़िए, कपूत जान पड़ने वाला पुत्र भी, जब समय आता है तब अद्भुत वीरता दिखाता है। देखिये, एक राजपूतानी अपने जेठ के जिस लड़के को निकम्मा समझती थी, वही लड़का शत्रुओं के दांत खट्टे करने का साहस दिखलाता है—

दिन दिन भोलो दीसतो, सदा गरीबी सूत।
काकी कंजर काटतां, जाणवियो जेठूत ॥

सपूत के लिए तो शत्रु को काट काट कर विजय की राह बनाना सदा ही एक खेल रहा है। बारह वर्ष का बादल अल्लाउद्दीन जैसे शत्रु को रण में मारने के लिए निकलता है, तलवार उठा कर युद्ध भूमि की ओर चल पड़ता है, माता उसके साहस की परीक्षा लेती हुई कहती है कि तू अभी बालक है, तू युद्ध को क्यों जाता है? अब देखिये उस अल्पायु बालक का उत्तर—

माता बालक क्यों कह्यो, रोद्र न मांग्यो ग्रास ।
जे खग मारूं साह-सिर, तो कहियो साबास ॥

अर्थात्, हे माता ! मुझे बालक क्यों कहती है ? क्या मैंने तुझसे रोकर भोजन माँगा है ? जब मैं बादशाह के सिर पर तलवार का आघात करूं तब तू मुझे शाबासी देना । वह आगे कहता है—

सिंघ सिचाणो सापुरुष, औ लहुरा न कहाइ ।
वडो जिनावर मार कै, छिन में लेय उठाइ ॥

अर्थात्, सिंह, बाज और वीर पुरुष को कभी भी छोटा नहीं मानना चाहिए । ये बड़े से बड़े जानवर को मार कर क्षण भर में उठा लाते हैं ।

वीर माता और वीर पुत्र की भावनाओं के बाद अब देखिये राजस्थानी काव्य में चित्रित वीर पत्नी की भावनाएँ । क्षत्रिय कन्या ऐसे पति का वरण करती है, उस पर बलिहार होती है, जो सदा अपनी मूँछ सीधी रखे और भालों पर सोकर भी जो शत्रु को ललकार सके—

मूँछां बाय फुरकिया, रसण झबूकै दन्त ।
सूतो सैला घो करे, हूँ बलिहारी कन्त ॥

वह पति को रण की प्रेरणा देती है और उसके आगे शौर्य की मशाल जलाती चलती है । यदि पति ने रण में वीर गति पाई तो वह भी अग्नि को चुनौती देकर सती हो जाती है । पति रण को जा रहा है, क्षत्राणी कहती है—

पाछा फिर मत झांकयो, पग मत दीज्यो टार ।
कट मर जाज्यो खेत में, पर मत आज्यो हार ॥

पीछे मुड़कर न झाँकने, पग पीछे न रखने, और मर भले ही जाय, पर हार कर न आने का यह आदेश वीर क्षत्राणी की भावनाओं के ही अनुकूल है । एक अन्य क्षत्राणी अपने पति को युद्ध के लिए जाते समय समझाती है कि हे पति । दोनों कुलों की लज्जा रखना, छाया की तरह आने जाने वाले संसार के सुखों की चिन्ता मत करना । यदि मेरी बात न मानो तो घर लौटने पर अपना सिर तकिए पर रख कर ही सोना पड़ेगा, मेरी भुजा सिर रखने को नहीं मिलेगी:—

कंत लखीजै दोहि कुल, नथी फिरती छांह ।
मुड़ियां मिलसी गीदंवो, वल न धण री बांह ॥

क्षत्राणी की वीरता का रोएं खड़े कर देने वाला चित्र हाड़ी रानी के अद्भुत

बलिदान में कवि नाथूदान ने अंकित किया है। वह स्वयं अपना सिर काट कर चूंडा-
वत को भेजती है, किन्तु उसकी आंखों से आंसू की एक बूंद भी नहीं गिरती:—

सीस पुगायो पीव कनै, थामों रंगतां कीच।
कहियो पण वहियो नहीं, काजल नैणा बीच॥

पुरुष की वीर भावना के चित्रों से तो समस्त राजस्थानी काव्य भरा पड़ा है।
वीरों का रूप, युद्ध-कौशल, मातृ-भूमि-प्रेम और स्वतन्त्रता के लिए बलिदान के अमर
भाव पुरुषों को लेकर प्रकट की गई वीर भावना का मुख्य अंग रहे हैं। राणा प्रताप
की वीरता इस दृष्टि से राजस्थानी काव्य में वीर भावना की अभिव्यक्ति का मुख्य
आधार बनी है। कवि पृथ्वीराज कहता है—

माई एहड़ा पूत जण, जेहड़ा राणा प्रताप।
अकबर सूतों ओझके, जाण सिराणें सांप॥

अन्य राजपूत वीरों की गाथाएं भी राजस्थानी काव्य में वीर-भावनाओं की
अभिव्यक्ति का माध्यम रही हैं। कवियों ने उनके आधार पर वीर हृदय की तो
अभिव्यंजना की ही है, साथ ही वीरता के प्रभाव की व्यापकता भी दिखलाई है।
कवि ईसरदास बारहठ के शब्दों में एक क्षत्राणी कहती है:—

साईं एहा भीचड़ा, मोलि महूंगे वासि।
ज्यां आछन्ना दूरि भौं दूरि थकां भौ पास॥

अर्थात् हे स्वामी। ऐसे वीर बहुत महंगे मूल्य पर मिलते हैं, जिनके समीप
रहने पर भय दूर और दूर रहने से भय समीप रहता है।

कवि बांकीदास के शब्दों में शूरवीर और शेर अपने भरोसे पर रहते हैं। ये
दोनों एक बार भिड़ जाने पर भागते नहीं, क्योंकि इनको कभी भी मृत्यु का भय नहीं
रहता—

सूर भरोसे आपरे, आप भरोसे सीह।
भिड़ दहुं ऐ भाजे नहीं, नहीं मरण री बीह॥

कवि सूर्यमल्ल भी कहते हैं कि मरने के पश्चात् वीर का शव गिद्ध, चील और
कंक खा जाते हैं, फिर भी उसका मरने से पूर्व दिखाया गया साहस मूछों को सीधा
किए रहता है—

गीद्ध कलेजो चील्ह उर, कंका अंत विलाय।
तो भी सो धक कंतरी, मूंछां मूंह मिलाय॥

वीर रस के चित्रण के साथ कायरता की भर्त्सना के चित्र भी राजस्थानी

काव्य में वीर भावना जगाते हैं। एक माता रण से भाग आने वाले अपने कायर पुत्र को फटकारती है:—

पूत ! घणो दुःख पावियो, थम जोवण धण साथ।
एम न जाणी, भाभजी, लाजण दूध लजाय॥

इसी प्रकार वीर पत्नी अपने कायर पति को फटकारती हुई कहती है:—

कंत घरे किम आविया तेगांरी घण त्रास।
लहंगे मूझ लुको जिवै, वैरी रो न विसास॥

भारत की पराधीनता के समय भी वीर क्षत्राणी अपने पति को उसकी कायरता पर सदा इसी प्रकार फटकारती रही है:—

पराधीन भारत हुवो, ध्यातां री मनवार।
मातृ भूम परतन्त्र हो, बार बार धिरकांर॥
दुसमण देसा लूटकर, ले ज्यावे परदेस।
राजन चूड़ल्या पहरलो, धरो जनानो भेष॥

वह अपने पति को एक वीर योद्धा के रूप में देखना चाहती है, कायर पति के साथ रहने से तो विधवा हो जाना वह पसन्द करेगी:—

यो सुवाग खारो लगँ, जद कायर भरतार।
रंडापो लागै भलो, होय सूर सरदार॥

स्वतन्त्रता के पश्चात् भी वीर भावनाओं के चित्रण की परम्परा राजस्थानी काव्य में अखण्ड रूप से चलती आई है। कई कवियों ने राष्ट्र-रक्षार्थ वीरता पूर्वक युद्ध में प्राणों की आहुति देने वाले वीरों की प्रशंसा की है। ऐसे कवियों की ओजस्वी वाणी आज भी राजस्थान के जन-जीवन में गूँज रही है।

: २५ :

शोध और समीक्षा

अर्थ-सीमा—यहाँ 'शोध' तथा 'समीक्षा' शब्दों का प्रयोग साहित्यिक शोध तथा साहित्यिक समीक्षा के अर्थों में किया जा रहा है। साहित्यिक शोध का कार्य दो दृष्टियों से किया जाता है। कुछ ऐसे विद्वान् होते हैं जो साहित्य के अज्ञात सत्यों तक पहुँचने के लिए शोध में तल्लीन होते हैं और कुछ ऐसे शोधार्थी होते हैं, जो किसी उपाधि की परीक्षा के लिए शोध-प्रबन्ध लिखते हैं। प्रथम प्रकार के शोध-कार्य से द्वितीय प्रकार का शोध-कार्य स्तर, पद्धति और स्वरूप में पर्याप्त भिन्न होता है। अतः प्रस्तुत निबन्ध में 'शोध' शब्द का अर्थ द्वितीय प्रकार के कार्य तक सीमित कर दिया गया है। समीक्षा शब्द भी दो रूपों में व्यवहृत होता है। प्रथम प्रकार की वे समीक्षाएँ है जो स्वतन्त्र शब्द के रूप में एक पूर्ण आकार के साथ प्रस्तुत की जाती हैं और द्वितीय प्रकार की वे समीक्षाएँ हैं, जो पत्र-पत्रिकाओं में पुस्तक परिचय आदि के रूप में प्रकाशित होती हैं। समीक्षा शब्द को शोध के साथ रखकर प्रस्तुत निबन्ध में प्रथम अर्थ में देखना ही अभिप्रेत है। रूप, विवेचन-पद्धति तथा आकार आदि में द्वितीय प्रकार के 'शोध-कार्य' से प्रथम प्रकार की 'समीक्षा' की ही बाह्य दृष्टि से कुछ ऐसी समानता रहती है, जिसके कारण कभी कभी शोधार्थी के भ्रमित होने का भय उत्पन्न हो जाता है। प्रस्तुत निबन्ध में इन्हीं अर्थ सीमाओं में शोध और समीक्षा का पारस्परिक अन्तर स्पष्ट करना मुख्य साध्य है।

'शोध' की व्याख्या—यह शब्द 'शुद्ध' धातु से बना है। 'शुद्ध' का अर्थ है निर्मल होना या संदेह-रहित होना। अतः 'शोध' का अर्थ होता है परिष्करण, प्रमाणीकरण, दोष-निवारण, संदेह-निवारण। अन्वेषण, अनुसंधान, गवेषणा, खोज, अनुशीलन, आदि शब्द इसी अर्थ की आंशिक अभिव्यक्ति करते हैं। कोई भी साहित्यिक सत्य जब परिष्कृत, प्रमाणित, संदेह रहित और तथ्य-पूर्ण होकर सामने आता है, तब वह शोध का परिणाम बनता है। खोज कर लाने के पश्चात भी किसी पदार्थ में तब तक निर्मलता, प्रामाणिकता या निर्दोपता नहीं आ सकती जब तक उसके अवयवों का पृथक् अनुशीलन न कर लिया जाय। आज से २०० वर्ष पूर्व लिखी गई किसी कृति की पाण्डुलिपि का पता लगा लेना खोज हो सकती है, उसके रचयिता के परिचय का उस कृति के माध्यम से अन्वेपण किया जा सकता है या बाह्य साक्ष्यों के

अनुशीलन से भी उन तथ्यों की गवेषणा की जा सकती है, जिनसे इस सत्य तक पहुँचा जा सके कि अमुक व्यक्ति का, जो प्रमुख ग्रन्थ का रचयिता है—परिचय इस प्रकार है। किन्तु, ये सब प्राप्त तथ्य तुलनात्मक विश्लेषण और सत्य की व्यापक दृष्टि की फिर भी अपेक्षा रखते हैं। जब तक वह दृष्टि खोजी हुई एवं अनुशीलित सामग्री पर न पड़े तब तक उसके विषय में निर्भ्रम और संदेह-हीन निर्णय उपलब्ध नहीं हो पाता। शोध इस अन्तिम संदेह-हीन और निर्भ्रम सत्योपलब्धि तक पहुँचाने वाली प्रक्रिया का नाम है। अगरचन्द नाहटा, मुनि कान्तिसागर आदि कुछ विद्वान् पुरानी पाण्डुलिपियों का पता लगाने के लिए उत्सुक रहते हैं। जब उन्हें १००–२०० वर्ष पुरानी कोई जीर्ण-शीर्ण हस्तलिखित पुस्तक मिल जाती है, तब वे नई खोज के नाम से उसका मात्र उतना ही परिचय प्रकाशित करा देते हैं, जितना उस पाण्डुलिपि से उन्हें प्राप्त होता है। इस प्रकार के परिचय में उपलब्ध कृति की प्रारम्भ और अन्त की कुछ पंक्तिया भी ज्यों की त्यों उद्धृत कर दी जाती है। नागरी प्रचारिणी सभा, हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, राजस्थान विद्यापीठ उदयपुर तथा विभिन्न राज्य सरकारों के खोज-विवरण भी इसी प्रकार के कार्य प्रस्तुत करते हैं। वस्तुतः यह शोध कार्य नहीं है, खोज-कार्य हो सकता है। इस कार्य में खोज शब्द का अर्थ केवल किसी कृति के विलम्ब से उपलब्ध होने पर ही आधारित है, अन्यथा इतना कार्य तो जीवित लेखक की किसी अप्रकाशित कृति के सम्बन्ध में भी किया जा सकता है। प्रथम प्रकार के कार्य से द्वितीय प्रकार का कार्य केवल इसी अर्थ में भिन्न है कि प्रथम कार्य के माध्यम से प्रकाश में आने वाला लेखक कुछ वर्षों के पर्तों में समाधि ले चुका है और द्वितीय प्रकार के कार्य से प्रकाश में आने वाला लेखक दुर्भाग्य (?) से अभी जीवित है। वस्तुतः यह खोज पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाली सामान्य परिचयात्मक समीक्षा की ही सीमा में आती है। अध्ययन-पूर्ण समीक्षाएँ भी इस खोज से अधिक उच्च स्तर की होती हैं। जब खोजी हुई पाण्डुलिपि की प्रामाणिकता का गवेषण करके उसके तथ्यों का अन्वेषण कर लिया जाय और तुलनात्मक दृष्टि से उन तथ्यों के आन्तरिक सत्यों का अनुसंधान कर लिया जाय, तभी यह कृति प्रमाणित होती है और किसी शुद्ध निष्कर्ष पर पहुँचाकर शोध का परिणाम बनती है। इसीलिए विश्वविद्यालयों में शोध के आधार-भूत सिद्धान्तों में निम्नांकित बातों को सम्मिलित किया गया है:—

(१) शोध-प्रबन्ध में अज्ञात तथ्यों की खोज अथवा ज्ञात तथ्यों और निष्कर्षों का नवीन दृष्टि से आख्यान होना चाहिए।

(२) शोध-प्रबन्ध में विवेचनात्मक विश्लेषण, परीक्षण और विश्वसनीय निष्कर्षण होना चाहिए।

(३) शोध-प्रबन्ध की स्थापना-पद्धति साहित्यिक दृष्टि से विश्वसनीय और सन्तोष-प्रद होनी चाहिए।

(४) शोध-प्रबन्ध के निर्णय ऐसे होने चाहिए जो ज्ञान-क्षेत्र की सीमा के विस्तार में सहायक हों।

उपरोक्त सिद्धान्तों के अनुसार शोध का अर्थ बहुत व्यापक हो जाता है। इसमें खोज, गवेषणा, अनुसंधान, अन्वेषण, अनुशीलन विश्लेषण, मूल्यांकन तथा समीक्षा या आलोचना, शब्दों के अर्थ अंश बनकर समा जाते हैं। डा० उदयभानु सिंह ने 'शोध' के स्थान पर 'अनुसंधान' शब्द का प्रयोग अधिक व्यापक अर्थ पूर्ण माना है।[1] किन्तु, मैं उनके मत से सहमत नहीं हूँ, क्योंकि अनुसंधान का अर्थ 'पीछे लगने', 'लक्ष्य बांधने' 'लक्ष्य को खोज़ लाने'[2] तक ही सीमित है, यद्यपि उन्होंने शोध के समस्त अर्थ को उसमें स्थापित कर दिया है, किन्तु वस्तुतः अनुसंधान सत्य के निर्मल और संदेह-हीन पक्ष की उस स्थापना तक नहीं पहुँच पाता, जिस तक 'शोध' शब्द पहुँचता है। यों अनुसंधान शोध का विरोधी नहीं है, किन्तु वह उस पूर्ण मार्ग का परिचायक नहीं है, जिससे सत्योपलब्धि के पश्चात् निर्मल और संदेह-हीन ज्ञान का विस्तार होता है। यही कारण है कि उपाधि-परक अधिकांश अनुसंधानों में "किसी महत्त्वपूर्ण सुनिश्चित विषय के तत्त्वाभिनिवेशी वैज्ञानिक अध्ययन, तत्सम्बन्धी तथ्यों के व्यवस्थित ढंग से अन्वेषण, निरीक्षण-परीक्षण तथा वर्गीकरण-विश्लेषण और उनके आधार पर प्रस्थापन योग्य निष्कर्षों का प्रमाण—निर्देश-पूर्वक तर्क सगत उपस्थापन"[3] होने पर भी वे ऐसे सत्यों को भी उभार कर रह जाते है, जिनसे कभी कभी ज्ञान की हानि होती है, उसका स्वरूप जीवन-महत्त्व की दृष्टि से सदोष हो जाता है तथा उसके क्षेत्र की सीमा संकुचित होने लगती है। शोध में शोधन की दृष्टि अन्तिम सूत्र बनकर समस्त प्रक्रिया में समाई रहती है। अतः शोध शब्द ही उस उद्देश्य से ग्राह्य है, जिसके लिए विश्व-विद्यालयों ने पूर्वोक्त सिद्धान्त बनाए हैं।

समीक्षा की व्याख्या—समीक्षा किसी कृति का सम्यक् ईक्षण करने की प्रक्रिया का नाम है। अज्ञात की खोज, फिर उसके अज्ञात तथ्यों का आख्यान, उस आख्यान के द्वारा अज्ञात सत्यों की प्राप्ति, और उस सत्यान्वेषण का ऐसा निष्कर्षण जिससे ज्ञान सीमा का निर्दोष विस्तार हो—समीक्षा के अर्थ का विषय नहीं है, कि केवल इसका वह अंश समीक्षा का विषय है, जिससे कृति का आख्यान होता है। तुलनात्मक समीक्षा में उपलब्ध तथ्य की अन्य समान तथ्यों से तुलना भी की जा सकती है। किसी कृति का भली भांति अनुशीलन और अन्य कृतियों से उसकी तुलना हमें शोध के ज्ञान विस्तार तक नहीं पहुँचाती। अतः समीक्षा शोध की विस्तृत और व्यापक प्रक्रिया का एक अंग अवश्य है, किन्तु वह शोध की स्थानापन्न प्रक्रिया नहीं है।

---

१ देखिए 'अनुसंधान का स्वरूप', डा० उदयभानुसिंह, पृष्ठ १३

२ देखिए 'अनुसंधान का स्वरूप', डा० उदयभानुसिंह, पृष्ठ १३

३ अनुसंधान का स्वरूप, डा० उदयभानुसिंह, पृष्ठ १३

उद्देश्यों का अन्तर—समीक्षा हमें किसी एक कृति या कृतिकार के समस्त कृतित्व से परिचित करा सकती है, किन्तु कृतित्व की सुदीर्घ परम्परा में उस कृति या कृतिकार का सत्य-विस्तार की दृष्टि से कितना महत्त्व रखता है, यह बताना उसका उद्देश्य नहीं है। शोध ही हमें इस उद्देश्य तक पहुँचाती है। समीक्षा में हम किसी कृति का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, शोध में हम उस कृति के ज्ञान-क्षेत्रीय स्थान का सत्य प्राप्त करते हैं। साहित्य की परम्परा देश और काल के विस्तार के अनुसार विराट् और व्यापक है। उस परम्परा में किसी कृतित्व को रखकर परखे बिना हम उसकी समीक्षा के परिणामों से उसी प्रकार प्रसन्न या सहमत हो सकते हैं, जिस प्रकार किसी ग्रन्थ के किसी अंश को अपने मत के समर्थन के लिए उसे संदर्भ से तोड़ कर अपने अर्थ में रख कर दूसरों को प्रभावित करना चाहते हैं। रावण के पाण्डित्य की समीक्षा करके हम पाठकों के हृदय में उसके लिए स्थान बना सकते हैं, किन्तु उन्हें उस अज्ञान में टालने से नहीं बचा सकते, जिसके कारण वे रावण के पाण्डित्य की तुलना में उसके अत्याचारी रूप को भूल जाते हैं। शोध का कार्य किसी उद्देश्य तक तभी पहुँचता है, जबकि रावण को उसके सभी संदर्भों में रखकर परखा जा सके। समीक्षा जिस तथ्य की जाती है, वह अपने में पूर्ण होने पर भी ज्ञान के विराट् संदर्भ में अपूर्ण होता है। शोध उसी अपूर्णता को पूर्ण बनाती है। अतः समीक्षा का उद्देश्य काल, कृति और देश की सीमाओं से संकीर्ण है, जबकि शोध का उद्देश्य उनको लांघ कर विराट् क्षेत्र से अपने सत्यों का संचय करना है। समीक्षा का उद्देश्य किसी कृति या कृतिकार के महत्त्व को उठाना या गिराना भी हो सकता है, जबकि शोध का उद्देश्य उस महत्त्व को न उठाना है न गिराना, अपितु ज्ञान विस्तार के क्षेत्र में रख कर उसका मूल्यांकन करना है। निष्पक्ष शोध का लक्ष्य होता है मानव-जीवन को सत्य, सुन्दर और शिव बनाने वाले कृति धर्म को प्रकाश में लाना, जिस तक समीक्षा कभी नहीं पहुँच सकती।

पद्धतियों का अन्तर—शोध और समीक्षा की पद्धतियों में भी बहुत अन्तर है। समीक्षा के लिए समीक्षक का वस्तु परक होना आवश्यक नहीं माना जाता। समीक्षक के समीक्षा सम्बन्धी कुछ पूर्व निर्धारित सिद्धान्त होते हैं। वह उन्हीं के अनुसार समीक्षा करता है। उदाहरणार्थ मनोवैज्ञानिक समीक्षक डा० देवराज उपाध्याय हर कृति को मनोविज्ञान के आधार पर रखते हैं। निश्चय ही वे अपने पाठकों को कृति के उस सत्य से परिचित नहीं करा सकते जो मनोविज्ञान की अपेक्षा के बिना ही कृति में अभिव्यक्त हुआ है। प्रगतिवादी समीक्षक इसी कारण छायावादी कृतियों और कृति-कारों के सत्य तक नहीं पहुँच पाते। अतः यह स्पष्ट है कि समीक्षा में समीक्षक के ज्ञान रुचियों और पूर्वागत मान्यताओं का भी कृति पर प्रभाव पड़ता है। समीक्षक को इसी कारण डा० नगेन्द्र ने एक अभिसृष्टा कहा है। तुलसीदास ने जो कुछ लिखा,

पर-साक्ष्य के आधार पर निर्णय देने वाला न्यायाधीश अपनी इच्छाओं का आरोप करने
में असमर्थ होता है, उसी प्रकार समीक्षक आत्म-साक्ष्य के आधार पर जो निर्णय करता
है, वे सदैव निर्दोष ही हों, यह आवश्यक नहीं; किन्तु शोधार्थी शोध को वस्तु-परक
पद्धति से काम लेने के लिए बाध्य होता है। अगर वह ऐसा नहीं करता, तो उसका
शोध-कार्य स्वीकार्य नहीं हो सकता। अतः स्पष्ट है कि समीक्षा की पद्धतियों में आत्म-
परकता अधिक होने से निष्पक्षता का अभाव रहता है, जब कि शोध की पद्धति में
वस्तु-परकता होने से पक्षपात के लिए अवकाश नहीं होता। जहाँ उसमें पक्षपात होता
है, वहीं वह अपनी अर्थ सीमा से बहिष्कृत हो जाती है।

आत्म-परकता के कारण ही समीक्षा में कभी-कभी जो निर्णय दिए जाते हैं,
वे अध्ययन के फलस्वरूप न दिए जाकर आरम्भ में ही प्रस्तुत कर दिए जाते हैं और
उनके समर्थन में कृति के सदन तोड़कर उद्धरण दिए जाते है। शोध में सामग्री के
प्रस्तुतीकरण और विश्लेषण-विवेचन के पश्चात् ही सदा निष्कर्ष दिए जाते हैं।

समानता के तत्त्व : एकता का भ्रम—शोध और समीक्षा दोनो का विषय
साहित्यिक कृति या कृतिकार होता है। दानो के लिए निरीक्षण विवेचन की अपेक्षा
रहती है। दोनो के लिए प्रतिभा ज्ञान और रुचि के समान तत्त्व आवश्यक होते हैं।
दोनों में कल्पना को वर्जित करके तर्क का सहारा लेना पड़ता है। दोनों को विषय से
सम्बन्धित संदर्भों की विस्तृत और व्यापक जानकारी आवश्यक होती है। अतः कभी
कभी दोनो मे समान धर्म का आरोप हो जाता है और सिद्धान्त रूप में दोनों के कार्य
भिन्न होने पर भी व्यवहार में दोनों एक मान लिए जाते है। यह शोध-क्षेत्र का भ्रम
है और समीक्षा क्षेत्र का विवेक है। समीक्षक अगर शोध के विशेषणों से अपने कार्य
को अलंकृत करता है, तो उसका भ्रम निर्दोष हो जाता है; किन्तु जब शोधार्थी समीक्षा
की पद्धति और स्तर तक अपने क्रम को सीमित कर देता है, तब वह जो भी निर्णय
देता है, वे भ्रान्त हो जाते है तथा उससे ज्ञान परिधि-विस्तार मे सहायता उस सीमा
तक नही मिलती, जिस सीमा तक शोध म मिलनी चाहिए। अतः शोध को समीक्षा के
समान न मानने का भ्रम त्यागकर उसकी सीमाओं को निर्दोष रखना परमावश्यक है।

उपसंहार—हिन्दी में भाषा और साहित्य की शोध का जितना कार्य हुआ है,
उसमें से अधिकांश अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। किन्तु शोध और समीक्षा को समान
मान कर जिन लोगों ने कार्य किया है, वह निर्दोष नही है। कतिपय प्रकाशित (और
अप्रकाशित भी) शोध-प्रबन्ध ऐसे है, जिनमें सामग्री संकलन और विवेचन विश्लेषण
तो है, परन्तु उपलब्धियां नही हैं। कतिपय शोध-प्रबन्धों मे केवल समीक्षा करके
आत्म निर्णयों की स्थापना करदी गई है, शोध विषय से निचोड़ कर वे निर्णय प्रस्तुत
नहीं हुए। किन्तु ये सब समीक्षा-प्रयास हो कहे जाएंगे। शोध का क्षेत्र इन से सीमित
नही होता। ★